

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 6 अंक 4

अप्रैल-जून 2009

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

	सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1.	वर्ण-जाति प्रथा लोकेशचन्द्र अनुवादक : बाबूराम वर्मा	11
2.	माक्स, गांधी और लोहिया सत्यमित्र दुबे	21
3.	वर्तमान सभ्यता, महात्मा गाँधी और हिन्द-स्वराज डॉ. नरेश कुमार अम्बष्ट	42
4.	कला का सत्य यशदेव शल्य	46
5.	राजनीतिक संस्कृति एवं चुनाव डॉ. कुमार विमल	57
6.	सूफीवाद: दर्शन और राजनीति शंकर शरण	66
7.	गोरखालैंड का गोरखधंधा ए.सी. सिन्हा	84
11.	राष्ट्रीय काव्य-धारा और दिनकर का काव्य कमल किशोर गोयनका	97
12.	भारत में अध्यापक शिक्षा : नये परिप्रेक्ष्य अजय कुमार सिंह	108

13.	प्रकृति, प्रकाश, कविता एवं बच्चों में अपने होने का एहसास डॉ. कमल किशोर गोयनका	117
14.	‘समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक अनुकरणीय प्रयास डॉ. कामेश्वर पंकज	120
	पाठकीय प्रतिक्रिया	125

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

2009 संसदीय चुनावी परिदृश्य एवं जनादेश

आज से तीन दशक पहले 1979 में मोरारजी देसाई सरकार के पतन के बाद जब यशवन्त राव चव्हाण ने राष्ट्रपति रेड्डी से प्रधानमंत्री बनने की अपनी ईच्छा व्यक्त की थी तो राष्ट्रपति ने उनसे पूछा था कि मात्र कांग्रेस (संगठन) के सांसदों के बल पर आप कैसे प्रधानमंत्री बनेंगे? उसके बाद ऐसे प्रश्न कभी नहीं पूछे गये, स्थिति लगातार खराब होती चली गयी। चरण सिंह ने संसद का सामना किए बिना ही त्यागपत्र दे दिया। चन्द्रशेखर लाल किले पर झंडा तक नहीं फहरा सके। विश्वनाथ प्रताप सिंह, अटल बिहारी वाजपेयी (अपने पहले प्रधानमंत्रित्व काल में), देवे गौड़ा एवं इन्द्र कुमार गुजराल साल भर भी प्रधानमंत्री पद पर बने नहीं रह सके थे। इनमें अन्तिम तीन का कुल कार्यकाल मात्र दो साल ही रहा। वाजपेयी जी की 13 दिन की सरकार के पतन के बाद तीन मुख्यमंत्रियों लालू प्रसाद यादव, देवे गौड़ा एवं चन्द्रबाबू नायडू ने विश्वनाथ प्रताप सिंह का नाम प्रधानमंत्री पद के लिए प्रस्तावित किया जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। फिर ज्योति बसु का नाम आया, जिन्होंने सरकार नहीं बनाया। फिर जनता दल के, 545 के सदन में मात्र 40 सांसद होने पर भी, दो प्रधान-मंत्री देवे गौड़ा एवं गुजराल बने। इनमें देवे गौड़ा अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों में अपने कुनबे के बीसों सदस्यों को ले जाने के लिए प्रसिद्ध हुए। गुजराल ने जासूसी संगठन राॅ के पाकिस्तान में चलनेवाली गुप्त जासूसी कार्रवाइयों पर रोक लगवाकर जैसे भारत में पाकिस्तान के आई.एस. आई. के लिए खुला मैदान ही छुड़वा दिया जिससे इस देश में जिहादी आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ीं। गुजराल के विषय में हरिकिशन सिंह सुरजीत ने कहा था कि उनकी पार्टी, जनता दल, के 40 सांसदों में कोई भी उनके प्रति निष्ठावान नहीं था।

इस चुनाव के पहले की स्थिति तो और भी भयावह थी। कांग्रेस एवं भारतीय जनता दल संचालित मोर्चों के अतिरिक्त दो अन्य मोर्चे भी वाम-दलों के नेतृत्व में तीसरा एवं मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव एवं राम विलास पासवान का चौथा मोर्चा चुनाव के मैदान में थे। तीसरे मोर्चे का घोषित उद्देश्य था कांग्रेस एवं भारतीय जनता पार्टी विहीन सरकार का गठन। इसके अगुवा कम्युनिस्ट थे तथा इन्होंने मायावती को प्रधान-मंत्री बनाने की घोषणा कर रखी थी। चौथे मोर्चे का उद्देश्य था अधिक से अधिक स्थानों से चुनाव जीत कर नयी सरकार बनते समय सशक्त होकर सौदागिरी कर पाना।

इस चुनाव के पहले ऐसा लग रहा था कि किसी भी चुनाव-पूर्व गठबंधन को पूर्ण बहुमत के नजदीक पहुँचना कठिन होगा। जहाँ एक तरफ भारतीय राजनीति के

बढ़ते विखराव से जनता चिन्तित थी, ठीक इसके विपरीत छोटे क्षेत्रीय राजनीतिक दल तथा उनके नेता इससे खुश थे। उन्हें इसमें असीम संभावनाएँ, प्रधानमंत्री बनने तक की, नजर आ रही थी। भारतीय राजनीति में ऐसी विडम्बना, ऐसा विद्रुप, पहली बार सामने आया था कि प्रधानमंत्री पद की कामना रखनेवाले/ प्रधानमंत्री बनने को प्रतीक्षारत लोगों की बाढ़ सी आ गयी।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अस्पष्ट विसुंखल जनादेश एवं भारतीय राजनीति की सिद्धान्तहीन दिशाहीनता के फलस्वरूप मात्र 40 सांसदों वाले जनता दल के इस देश में दो प्रधानमंत्री बने। अन्ततः इस प्रक्रिया की चरम परिणति झारखण्ड में हुई जहाँ एक अकेले निर्दलीय विधायक मधु कोड़ा भी सरकार बनाने में सक्षम हो सके। ऐसा लगता है कि मधु कोड़ा संलक्षण (syndrome) में विश्वास करनेवालों की संख्या इस देश में लगातार बढ़ती रही। तभी तो प्रधानमंत्री पद के लिए ऐसे लोगों के भी नाम उछले या उछाले गये, जिनमें एक के दल का कोई भी सांसद चुनकर संसद में नहीं पहुँचा और स्वयं उसका नेता भी चुनाव हार गया; दूसरे एक पूर्व-प्रधानमंत्री के दल के तीन, तीसरे के चार तथा चौथे के मात्र नौ सांसद ही चुने जा सके। बसपा के मात्र बीस सदस्य ही संसद पहुँच सके।

तीसरे मोर्चे में शामिल बहुजन समाज पार्टी तथा जनता दल (सेक्युलर) ने कांग्रेस एवं भारतीय जनता पार्टी विहीन सरकार में सहभागिता की चुनाव-पूर्व घोषणा कर रखी थी। चुनाव परिणाम आते ही उन्होंने मनमोहन सिंह सरकार को बिना किसी शर्त के समर्थन देने की घोषणा कर डाली। उन्हें इस बात की आवश्यकता तक नजर नहीं आयी कि ऐसा करने के पहले वे तीसरे मोर्चे के घटक दलों, विशेष रूप से वाम-दलों से सलाह ले लें। ऐसे में तीसरे मोर्चे की विफलता की बात उसके पुरोधे, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) को भी स्वीकार करनी पड़ी। चौथे मोर्चे की स्थिति तो ऐसी रही कि उसके घटक दल चुनाव परिणाम के दो दिन बाद ही, बिना एक दूसरे की सलाह लिए, अलग-अलग भाषा बोलने लगे।

खण्डित जनादेश की संभावना को दृष्टिगत कर मतों की गिनती के पहले ही जोड़-तोड़ की राजनीति शुरू हो चुकी थी। ऐसे में बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार का वक्तव्य आया जिसमें उन्होंने बिहार के राजनीतिक दलों से किसी भी गठबंधन/मोर्चे को सरकार बनाने में सहायता देने की यह शर्त रखने को कहा कि वे बिहार को विशेष राज्य का दर्जा एवं एक मुश्त सहायता या पैकेज दें। इस बात को स्वीकार करते हुए भी कि बिहार जैसे पिछड़े राज्य को विशेष सहायता की आवश्यकता है, नीतीश कुमार की माँग/सलाह की अनैतिकता में संदेह की गुंजायस नहीं है। इस विषय में कई प्रश्न उठते हैं: क्या नीतीश कुमार ने बिहार में जनादेश माँगते समय बिहार की जनता से किसी भी गठबंधन/मोर्चे को समर्थन देने की बात बतायी थी? क्या उन्होंने इस बात पर ध्यान दिया था कि ऐसी या इससे बढ़कर अन्य माँगे दूसरे प्रदेशों या दलों द्वारा

भी की जा सकती हैं? स्पष्टतः नीतीश कुमार उन संभावनाओं पर भी ध्यान नहीं दे रहे थे कि पूरी तरह से बाहरी सहायता पर आधारित प्रतीक्षारत संभावित प्रधानमंत्रियों के सामने समर्थन मूल्य के रूप में कई प्रदेशों या धर्मविशेष के लोगों के लिए पैकेज की माँग, राम विलास पासवान जैसों द्वारा बंगलादेशियों को भारतीय नागरिकता दिए जाने की माँग, कुछ दलों द्वारा राज्य विशेष में धारा 356 लागू करने आदि जैसी असंभव माँगों के माँगें या स्वीकार किए जाने की स्थिति में देश का क्या होगा? इसमें कोई संदेह नहीं कि नीतीश कुमार एक ईमानदार तथा स्वच्छ छवि के व्यक्ति हैं। उनकी पहल पर बिहार में विकास भी हो रहा है; अपराध में कमी भी आयी है। लेकिन अभी बहुत कुछ होना है। अभी भी कई क्षेत्रों में अपराधी खुले घूमते हैं। भ्रष्टाचार बना हुआ है; सरकारी कामकाज में अपेक्षित कार्य-क्षमता एवं दक्षता का अभाव है। ऐसे में क्या बिहार की नौकरशाही अधिक मात्रा में केन्द्र द्वारा उपलब्ध कराये जानेवाले आर्थिक संसाधनों के बिना भ्रष्ट क्षरण के समयवद्ध उपयोग में सक्षम है?

2009 के जनादेश से कुछ शुभ संकेत उभरे हैं। देश की जनता ने सार्थक पहल करते हुए हमारी राजनीति को अस्थिर करने वाले तरल तत्त्वों को नकारा है। जनादेश की दिशा एक हद तक द्विदलीय व्यवस्था को मजबूत करने की तरफ रही है, यद्यपि भारतीय जनता पार्टी को कुछ क्षति हुई है। 18 वर्षों के बाद पहली बार कांग्रेस, या किसी भी दल, को संसद में 200 से अधिक स्थान मिले हैं; नेहरूजी के बाद पहली बार कोई प्रधान मंत्री लगातार दूसरी बार प्रधानमंत्री बना है। इस चुनाव में लोगों ने एक सीमा तक जाति एवं धर्म के विचारों से अपने को अलग करते हुए मतदान किया है; अच्छा काम करनेवाले स्वच्छ छवि के नेताओं, मुख्य मंत्रियों को पुरस्कृत किया है। लेकिन जीतनेवालों को अपने विरोधियों की गलतियों का भी लाभ मिला है।

पिछले जनादेश में भारतीय जनता पार्टी कमजोर होकर उभरी है। वैसे पार्टी की आन्तरिक कमजोरियों पर ध्यान दिया जाय तो क्षति उतनी नहीं हुई है। पिछली लोकसभा में यह पार्टी मुख्य विरोधी दल थी, लेकिन विरोधी दल की सार्थक भूमिका न निभा सकी। वस्तुतः वामपंथी दल, जो बाहर से सरकार को मदद दे रहे थे और इसका लाभ भी ले रहे थे, प्रमुख विरोधी दल की भूमिका में संलग्न रहे। आन्तरिक फूट, अपने घोषित नीतियों/कार्यक्रमों की अवसरवादी अनदेखी, दल का कांग्रेसीकरण, आडवानीजी का वाजपेयीकरण, पार्टी नेतृत्व एवं कार्यकर्ताओं के बीच की बढ़ती दूरी से उपजी कार्यकर्ताओं की उदासीनता, बंगलादेशियों की घुसपैठ जैसी विकट राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति केवल मौखिक जुड़ाव, आदि बातें मतदाताओं की नजर से छिपी न रह सकीं। अपनी निष्ठा, ईमानदारी, विद्वता, सादगी आदि गुणों के कारण मनमोहन सिंह के प्रति लोगों का लगाव है। ऐसे में आडवानीजी द्वारा उन्हें 'दुर्बलतम प्रधानमंत्री' कहा जाना लोगों को ठीक नहीं लगा था।

वामपंथी पिछली सरकार के काम में लगातार बाधा पहुँचाते रहे। उनका अनावश्यक अमेरिकाविरोध, भारत के हितों की अनदेखी कर चीन, ईरान जैसे देशों

के हितों को वरीयता देना, सरकार पर लगातार दबाव देकर उसे अस्थिर करने का प्रयत्न आदि राष्ट्र के हित में नहीं था। ऐसे में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) सांसदों की संख्या का 35 से घटकर 15 तथा वामपंथियों के कुल 64 सांसदों के स्थान पर 24 का ही चुनकर आना, आश्चर्यजनक नहीं है। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के लिए तो यह अबतक का सबसे बुरा जनादेश था। उल्लेख्य है कि उन दलों की स्थिति तो वामपंथियों से भी बुरी रही, जिनके नेताओं के नाम किसी न किसी रूप में प्रधानमंत्री पद के लिए उछाले गये थे। इनमें, जैसा कि ऊपर कहा गया है, लोजपा का एक भी सांसद चुनकर नहीं आया; लालू प्रसाद यादव के दल के मात्र चार, देवेगौड़ा के तीन तथा शरद पवार के दल के मात्र नौ सांसद ही चुनकर आये। मायावती को, जिनका नाम वामपंथियों द्वारा प्रधानमंत्री पद के लिए प्रस्तावित था, उत्तर प्रदेश की जनता ने पिछले विधान सभा के चुनाव में इस उम्मीद से भारी बहुमत से जिताया था कि वे अपराधियों पर लगाम लगायेंगी; भ्रष्टाचार पर काबू पायेंगी। हुआ उल्टा। भ्रष्टाचार बढ़ा; पिछले चुनाव में उनकी पार्टी ने खुंखार अपराधियों को टिकट दिए। फलतः उनकी पार्टी के मात्र 20 लोगों को संसद में बैठने का जनादेश मिला। चुनाव के पहले जयललिता ने अपना पत्ता नहीं खोला था; उम्मीद के विपरीत उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली।

2009 के जनादेश के एक अन्य सार्थक पक्ष का उल्लेख आवश्यक है। जनता ने इस चुनाव में आतिक अहमद, विनय शुक्ल, डी.पी. यादव, मुख्तार अंसारी जैसे 23 भीषण अपराधियों को बिहार में तो सभी अपराधियों को चुनाव में हरा दिए। इसके बावजूत अपराधी रिकार्ड के लोग सभी दलों से सांसद तो बने ही। इस चुनाव में कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबंधन के (कांग्रेस की 206 सांसदों को मिलाकर) कुल 261 सांसद चुने गये, जो पूर्ण बहुमत से मात्र 11 स्थान कम था। फिर बिना माँगे दिए गये समर्थन से यह संख्या बढ़कर 323 हो गयी। मन्त्रिमंडल बनाते समय तृणमूल कांग्रेस के 19, द्रविड़ मुनेत्र कजगम के 18, शरद पवार के दल के 9 तथा फारूक अब्दुल्ला के दल के चार लोगों में से प्रत्येक दल के सात सांसदों पर एक मंत्री तथा एक राज्यमंत्री का पद देना था। लेकिन सहयोगी दल विशेषतः द्रमुक के नेता करुणानिधियुश नहीं थे। उनकी माँगे अधिक स्थान तथा मलायीदार मंत्रालयों की थी। फारूक अब्दुल्ला भी रूठे। मान-मनौवल का दौर चला। फिर भी बात यहीं खत्म नहीं हुई। सहयोगियों एवं स्वयं कांग्रेस के आन्तरिक दबाव से मंत्रालय बँटवारे का काम विलम्बित हुआ। स्पष्टतः जनता की सार्थक पहल का कोई सार्थक प्रभाव इन दलों पर नहीं पड़ा था।

कई कारणों से उत्तर प्रदेश एवं बिहार में कांग्रेस ने अकेले चुनाव लड़ने का निर्णय लिया था। इसके सार्थक परिणाम भी निकले। कांग्रेस जनता से कटती जा रही थी, वह नेताओं की पार्टी बनती जा रही थी। उल्लिखित बदलाव से पार्टी जमीन से

जुड़ेगी, सशक्त होगी। फिर भी पिछले चुनाव में कांग्रेस ने जिस प्रकार से और जिस तरह के लोगों/दलबदलुओं को टिकट दिया वह शुभ नहीं था। फिर पार्टी को अनुभवहीन लोगों को देश पर लादने, युवा-गैर-युवा के द्विविभाजकता के मिथक आदि से तो बचना ही चाहिए।

आज से लगभग एक दशक पूर्व भाजपा की अलग छवि (party with a difference) हुआ करती थी। अब तो सत्ता से हटते ही या अपेक्षित पद न पाते ही इसके नेता बगावत करने लगे हैं। स्पष्टतः पार्टी के सिद्धान्तों, उसके मूल्यों की पैठ नेताओं तक में गहरी न थी। पार्टी का संगठन कई राज्यों में या तो नहीं है या अत्यन्त कमजोर है, जिसकी पूर्ति यह पार्टी गठजोड़ से करती रही है। और भी कई बातें हैं जिसका उल्लेख फिर कभी।

जनादेश 2009 से एक बात साफ हुई है कि जनता राष्ट्रीय दलों को सशक्त देखना चाहती है। यदि भविष्य में ऐसा नहीं होता है तो दोषी कांग्रेस एवं भाजपा को ही माना जाएगा। आज पश्चिम बंगाल जल रहा है। माओवादी हिंसा चालू है। स्पष्टतः यह समस्या केवल पश्चिम बंगाल की या मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की नहीं है। ऐसी ही अन्य समस्याएँ हैं, जिनका समाधान सभी दलों को विशेषतः कांग्रेस एवं भाजपा को दलगत स्वार्थों से ऊपर उठकर, मिलजुलकर निकलना चाहिए। नीति-निर्धारण में राष्ट्र की केन्द्रीयता की पुनर्स्थापना का कोई अन्य विकल्प नहीं है।

आज सरकार द्वारा चलायी जानेवाली अच्छी योजनाओं की कमी नहीं है। लेकिन उन योजनाओं का कार्यान्वयन ठीक ढंग से नहीं हो रहा है। उदाहरणस्वरूप राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (NREGA) को लिया जा सकता है। इसके चलाए जाने की कोई समयबद्ध कार्यक्रम नहीं होता। फलतः जब किसानों को मजदूरों की आवश्यकता होती है तब भी ऐसे कार्यक्रम चलते रहते हैं, फिर खेती के लिए समय पर मजदूर नहीं मिलते। त्रस्त किसान खेती छोड़कर पेड़ लगाने लगे हैं। इसके फलस्वरूप आनेवाले दिनों में अन्नकी कमी को टालना संभव नहीं होगा। एक बात और, विभिन्न राजनीतिक दलों में सस्ती लोकप्रियता एवं व्होट के लिए जनता को भीख या खैरात देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। वस्तुतः जनता की आवश्यकता आर्थिक सशक्तिकरण की है, भीख की नहीं। इस प्रवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए और यदि ऐसा नहीं होता तो नागरिक-समाज को इसके विरोध में जन-अभियान चलाना चाहिए।

ब्रज बिहारी कुमार

विनम्र श्रद्धांजली

हमारे दो सशक्त लेखकविष्णु प्रभाकर एवं आचार्य राममूर्ति त्रिपाठीहमारे बीच नहीं रहे। 97 वर्षीय विष्णु प्रभाकर वरिष्ठ रचनाकार एवं गांधीवादी चिन्तक थे। उनका देहान्त 11 अप्रैल 2009 को हुआ। 80 वर्षीय आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे, जिनका हिन्दी से लगाव सर्व-विदित था। वे 30 मार्च 2009 को हमसे दूर चले गये। उन दोनों को हमारी भावपूर्ण श्रद्धांजलि।

- सम्पादक

वर्ण-जाति प्रथा*

लोकेशचन्द्र

अनुवादक : बाबूराम वर्मा**

वर्ण-जाति प्रतिमान या 'जाति' को ठीक-ठीक समझने में साम्राज्यवादी दृष्टि-भ्रमों गलत व्याख्याओं और ग्रन्थों में पाए जाने वाले महत्वहीन छिटपुट उद्धरणों के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई मनमानी खोज-पड़ताल तथा हमारी भारतीय समाज प्रणाली की शानदार महत्वाकांक्षाओं की भ्रान्त समझ ने बहुत ज्यादा बाधाएँ डाली हैं। छिटपुट साहित्यिक संकेतों को बढ़ा-चढ़ाकर काल्पनिक पर्यवेक्षणों और आधारहीन अवशेषों की मनोकल्पनाओं में जाति ढूँढ़ निकालने के लिए जबर्दस्ती जोड़ दिया गया है।

समाज को नियमबद्ध बनाने का प्रयास मानव निरन्तर करता चला आ रहा है। इसकी प्रतिध्वनियाँ हमें रोमनों की फ्लेमोनियम/रेग्नम अवधारणा में मिलती हैं जो संस्कृत ब्राह्मण्य/राजन्य का प्रतिबिम्ब जैसी लगती है जिसमें ऋषि और राजा भाव को उभारा गया है। चीनी सन्त कन्फूसियस भी समाज व्यवस्था में सामान्य नीति को अन्दर से संत जैसी और बाहर से राजा जैसी होना आवश्यक बताता है।

'ब्राह्मण' शब्द प्राचीन भारोपीय युग तक पहुँचता है। आयरी भाषा में केल्टिक पितृदाय स्वरूप 'फोरामेन' मिलता है। आयरदेश रोमनी प्रभाव पड़ने से बचा रहा और वहाँ मूल पैतृकदाय सुरक्षित रहा जो शेष महाद्वीप में नहीं बच पाया। अनेक बातों में यह भारत के समान है। यहाँ भी गाय समृद्धि की माप है। संस्कृत सस्य, अन्न वहाँ (स) सिय (= जौ), संस्कृत आर्य वहाँ आयरे (= स्वतन्त्र व्यक्ति) है और उसी से देश का नाम आयर (Eire) बना है।

लातीनी (लैटिन) भाषा में ब्राह्मण शब्द 'फ्लामेन' और राजन शब्द वहाँ रेक्स है। ऋग्वेद में ब्रह्म च क्षत्रम च आया है। ये दोनों सजीव आश्रय राज्य की रोमन

* डा. ब्रजबिहारी कुमार की इसी विषय पर लिखी अंग्रेजी पुस्तक India : Caste, Culture and Traditions (Yash Publications, Delhi-32) के प्रख्यात विद्वान डॉ. लोकेशचन्द्र द्वारा लिखे आमुख का हिन्दी रूपान्तर।

** 67, बल्लूपुरा, देहरादून

अवधारणा में भी देखे जा सकते हैं। **रेक्स/फ्लामेन** की राजन/ब्राह्मण से तुलना करें तो ज्ञात होगा यह संप्रभुता की द्विपक्षीय अवधारणा के प्राचीन संस्कृत अवशेष का रोमांचक अंश है। शक्ति के शिखर पर रोमन **रेक्स** या सम्राट है जिसमें नीचे **रेगनम** और **फ्लेमोनियम** का सार विभाजित किया हुआ है। दोनों एक साथ रह रहे हैं क्योंकि राज्य के संचालन में दोनों मूल्य अन्तर्निहित हैं।

ब्राह्मण और **फ्लामेन** दोनों के उत्तरदायित्वों में विलक्षण समानता दिखाई पड़ती है।

फ्लामेन को शपथ लेकर साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता (प्लूटार्क, रोमन क्वेश्चंस 443; आउलस गेल्लियस 10, 15; लिवी 31.50)। **ब्राह्मण** को कभी भी साक्षी (गवाह) नहीं बनाया जा सकता (विष्णु स्मृति 8.2)।

फ्लामेन को हथियारबन्द सेना देखनी भी नहीं चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15)। **ब्राह्मण** को बाणों की सनसनाहट सुनते अथवा सेना के मध्य खड़ा होने और ऐसी स्थितियों में अपना पावन ज्ञानार्जन स्थगित कर देना चाहिए (मनु. 4, 113-121)।

रोम से बाहर की यात्रा करना **फ्लामेन** के लिए निषिद्ध होने के अतिरिक्त उसे अश्वारोहण भी नहीं करना चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15; प्लूटार्क रोमन क्वेश्चंस 40)। **ब्राह्मण** को अश्वारोही हो अध्ययन नहीं करना चाहिए, न ही, ऐसा प्रतीत होता है, उसे किसी पशु या वाहन पर आरूढ़ हो ऐसा करना चाहिए (मनु. 4.120)।

फ्लामेन को किसी चिता के समीप नहीं जाना चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15)। **ब्राह्मण** को चिता से उठते धुएँ से बचना चाहिए और ऐसे गाँव में जहाँ किसी की अर्थी निकल रही है, अपना पवित्र अध्ययन-कार्य बंद कर देना चाहिए (मनु. 4, 69, 108)।

फ्लामेन को नशाखोरी से बचना चाहिए तथा खमीरी पदार्थों को छूना तक नहीं चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15; प्लूटार्क रोमन क्वेश्चंस 109, 112)। **ब्राह्मण** को मादक पेय सेवन नहीं करने चाहिए (मनु, 11, 94, 96 व 97)।

फ्लामेन को बिना पकाया (= कच्चा) मांस छूना तक नहीं चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15, प्लूटार्क, रोमन क्वेश्चंस 110)। **ब्राह्मण** को ऐसा कोई भी मांस नहीं खाना चाहिए जिससे पहले बलि न दी गई हो (मनु 4.213) और न उसे किसी बधिकगृह के स्वामी से कुछ स्वीकारना चाहिए (मनु. 4.84-86) और न मद्यशाला अथवा तेल पेरने वाले अथवा वेश्यागृह के मालिक से।

फ्लामेन कुत्ते को न छू सकता है न उसका नाम ही ले सकता है (प्लूटार्क, रोमन क्वेश्चंस 111)। **ब्राह्मण** कुत्ते के भौंकने की आवाज़ सुनाई पड़ने पर वेदपाठ नहीं कर सकता (मनु. 4, 115); न कुत्ते का छुआ भोजन खा सकता है न ऐसा खाना जिसे किसी कुत्ते पालने वालों ने उसे भेजा हो (मनु. 208.116)।

ब्राह्मण की पत्नी, **ब्राह्मणी** तथा **फ्लामेन** की पत्नी **फ्लामिनिसी** धार्मिक सन्दर्भ में, उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने उनके पति।

फ्लामेन संस्था **लुपरसी** संस्था की विरोधिनी थी। **फ्लामेन** और **ब्राह्मण** पवित्र व्यवस्था के संरक्षक हैं। **लुपरसी** और **गन्धर्व** धार्मिक अव्यवस्था के अभिकरण हैं। **लुपरसी** पशु-मानव, तीव्र धावक और भारी अपहरणकर्ता हैं। उनकी प्रकृति विस्फोटक है और वह सुषुप्त रह ही नहीं सकती। उसमें ऊर्जा का उथल-पुथलकारी विस्फोट होना ही चाहिए। **ब्राह्मणों** और **फ्लेमिनो** के कार्य, इसके प्रतिकूल, प्रकृतितः सामाजिक जीवन से सहअस्तित्व रखने वाले होते हैं। वे जिम्मेदार हैं, कुछ सीमा तक वे ऋत अथवा व्यवस्था के मूर्तिमन्त रूप हैं।

उनकी समानताएं और भी अनेक बातों में हैं। उदाहरणार्थ **ब्राह्मण** और **फ्लामेन** दोनों का रंग श्वेत है तथा **राजन्य** और रोमन **रेक्स** का रंग लाल (प्लुटार्क, रोमुलस, 26) है। श्वेत और लाल की यह स्वाभाविक प्रतीकता ईरान में भी देखी जा सकती है। यह सृजनशील समाजों की लय है जिसमें वीर्यता और नैतिकता का रहस्य, जीवन की पराकाष्ठा के रूप में जीवन प्रवाह की संभावनापूर्ण निरन्तरता में छिपा है। इन्दोनोसिया के राष्ट्रध्वज, द्विवर्ण में ऊपर नीचे करके लाल और श्वेत पट्टियाँ बनी हुई हैं। ये शास्त्रीय जावाई संस्कृत की शिव और शक्ति हैं। ऐसा राष्ट्रपति सुकार्पो ने मेरे पिताश्री डा. रघुवीर को 1951 में बताया था। लातीनी फिदेस का अर्थ दायित्वों का आदर, न्याय का आदर करना है। **फिदेस** सम्प्रदाय रोम के सर्वोत्तम सृजन, उसके विधि की नींव थी। **फिदेस** संस्कृत का श्रद्धा है। ब्राह्मण इसका रक्षणकर्ता था। ब्राह्मण/राजन्य अर्थात् **फ्लेमोनियम/रेग्नेम** का संघनीकरण सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता देना ही था। दोनों एक दूसरे की परिपूरकता परिभाषित करते थे, वे असंगतेय नहीं थे।

भविष्य की जीवन्तता को प्रोत्साहित करने के लिए जैविकी उत्कृष्टता लाना उन कारकों में से एक कारक था जिसने वर्णजाति प्रणाली में विभिन्नता को स्थान दिया। **युजीनियॉ** अर्थात् अभिजात्य (यूनानी) प्राचीन काल से मानव की चिन्ता रही है। 1885 में सर फ्रांसिस गाल्टन ने सृजनन विज्ञान (Eugenics) की स्थापना की और इसी यूनानी शब्द पर उसका नाम रखा। इसकी परिभाषा उन्होंने “सामाजिक नियन्त्रण के अधीन उन अभिकरणों का अध्ययन करना जो भविष्य में आने वाली पीढ़ियों का शारीरिक या मानसिक परिष्कार अथवा उसमें क्षति कर सकते हों” रखी। मानव में होने वाला विकास निम्न कारकों की आपस में होने वाली अन्तक्रियाओं पर निर्भर था। (1) पैतृक कारक, जो माता-पिता से प्राप्त होते थे और (2) पर्यावरणिक कारक, जिनमें रहकर अथवा जिनके द्वारा किसी व्यक्ति का विकास होता है। आनुवंशिक पदार्थ का संप्रेषण माता-पिता करते हैं। पित्र्यगुण जीन क्रोमोजोमों (या गुणसूत्रों) की रेखीय व्यवस्था में स्थित रहते हैं। पिता और माता की दो बीज कोशाएं परस्पर

मिलकर नया व्यक्तित्व निर्मित करती हैं। युग्म बने पित्र्यसूत्र दृश्यरूप बनाते हैं। पित्र्य सूत्र देहव्यापारिकीय दृष्टि से अपने को एक जाति के अन्दर प्रजनन करके अभिव्यक्ति देते हैं और उनकी बाह्याकृति को दृश्यरूप या फेनोटाइप कहा जाता है। मानव विकास अन्तःप्रजनन करती जनसंख्याओं से फलीभूत होता है। वर्ण-जाति प्रणाली सृजनन विज्ञान (युजेनिक्स) के सिद्धान्तों की शास्त्रीय अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा बौद्धिक और शारीरिक उत्कृष्टता के उच्च स्तरों को लम्बे समय तक यथावत् बनाए रखा जा सकता है। जीव-विज्ञान जैविकीय गतिशीलता और उसमें अन्तर्निहित उसे श्रेष्ठतम बनाने के सिद्धान्तों की बात कहता है। प्राथमिक पृथक्करण, गुणों का विभेदीकरण और आनुवंशिकीय बाधाएं लगाकर अन्तःप्रजनन में उन्हें कसकर पकड़े रहना जीवन का जैविक विकास होते रहने की तीन आधारभूत प्रक्रियाएँ रही हैं। संपूर्ण जनसंख्या से चुने हुए वर्गों को समर्थन देकर उसका आन्तरिक क्रमनिर्धारण करना ही वह आनुवंशिक अन्तःक्रिया रही है जिसके द्वारा उन घटिया वर्णसंकरों के उत्पादन को रोके रखा गया है जो वर्ण जाति दोनों के अनुकूल नहीं बन पाते जिसमें पैतृकता की अवधारणा प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त को प्रतिध्वनित करती है जिसके फलस्वरूप “सर्वोत्तम की प्रतिजीविता” और “सर्वोत्तम का आगमन” सम्भव हो पाता है।

वर्णजाति प्रणाली का सार घटन, संभाविता और वास्तविकता ही जीवनी शक्ति की गुणवत्ता और उत्तरोत्तर प्रगति करते जाते व्यक्तित्व की गतिशीलता को सुनिश्चित बना सकने वाला विराट सामाजिक हेतुवाद है। **होमो हियेरार्किकस** भारतीय सामाजिक प्रणाली की ही एकमात्र विशिष्टता नहीं है। यह एक सार्वदेशिक घटना है। उदाहरणार्थ नीला खून (Blue Blood) उसे कहा जाता है जो प्राचीन अभिजात परिवारों की नस-नाड़ियों में प्रवाहित हो रहा है। यह शब्द हस्पानी भाषा के **सांग्रे आजुल** (Sangre Azul) का अनुवाद है जिसे कास्तील के प्राचीनतम परिवारों के रक्त से जोड़ा जाता है जिनका दावा रहा है कि उनका रक्त मूर, यहूदी या अन्य किसी के अपमिश्रण से कभी संदूषित नहीं हुआ है। यह अभिव्यक्ति गोरे वर्ण वाले लोगों की शिराओं की नीलता से आरम्भ हुई जिनकी तुलना गहरे रंग की त्वचा वालों की शिराओं से की गई। वर्ण और जाति एक सामाजिक यन्त्र क्रिया (मेकेनिज्म) जैसे थे जिनके द्वारा अनुशासन, स्वच्छता तथा आन्तरिक अनुभव और बाहरी जीवन में समन्वयात्मक सन्तुलन लाने के समाधार को बाह्य रूप दिया गया। निरन्तरता की इस क्रान्तिकारी अवधारणा की मनोवैज्ञानिक जड़ें उस निरन्तरता में निहित हैं जिसमें हम आजकल के भी हैं, विगत हो चुके कल के भी तथा भावी कल के भी होंगे तथा ऐतिहासिक एवं भविष्यपरक अस्तित्व में भी बने हुए हैं।

रोम ट्यूटनी समूहों के आक्रमणों के सम्मुख क्यों ध्वस्त हो गया जबकि एक अन्य समसामयिक साम्राज्य अर्थात् चीनी साम्राज्य बर्बरों के सभी आक्रमणों और अपने विश्व राज्य के अनेक टुकड़ों में कटकर अलग-अलग हो जाने के बावजूद अपनी

सांस्कृतिक निरन्तरता खोए बिना उन्हें झेलकर जीता-जागता बना रहा। एमोरी द रिप्लेनकोर्ट यह प्रश्न उठाता है। वही हमें आगे चलकर यह बताता है कि परिवार भावना के क्षरण, गर्भ निरोधकों के अत्यधिक उपयोग, स्त्रियों की सामाजिक मुक्ति, विस्तार से फैली अनैतिकता ने रोमनों की जैविक उर्वरता को सांघातिक रूप से मिटाकर रख दिया। निरन्तर चलते रहे युद्धों ने रोमन साम्राज्य की मानव शक्ति को घटाते-घटाते जाति विनाश तक पहुंचा दिया। चीन की परिवार प्रणाली के इतिहास ने अनेक युगों में उसके समाज को बचाए रखा तथा बर्बर आक्रमणकारियों को चीनी बनाकर जैविकीय और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें अपने में आत्मसात कर लिया। इस तरह वे बीसवीं शताब्दी तक अपनी चीनी संस्कृति को यथावत् बचाकर रखे रह सके। इसी तरह से भारत में वर्णजाति प्रणाली ने आक्रमणकारियों को सामाजिक दृष्टि से अपने से दूर बनाए रखा और उनके साथ विवाह द्वारा आक्रमणकारी उनके परिवारों के अन्दर प्रवेश नहीं कर पाए। जाति विशिष्ट खानदान पर लगे बन्धनों, कड़ी वैवाहिक नियमावली, स्त्रियों की अलंघ्य पवित्रता ने वर्णजाति-संरचना को पावन बना दिया और उसी ने हमारी संस्कृति को सुरक्षित बनाया। हालांकि चार वर्ण हजारों जातियों में विभाजित हो गए, फिर भी वे हजारों वर्षों तक इस्लामी आक्रामक झुण्डों को रोके रहे। अर्द्धचन्द्र पताका वाले मध्य एशियाई बहुसंख्यक जनसमूहों के सामने अपनी राजनैतिक और सामरिक शक्ति खो देने के बावजूद वर्णजाति की मजबूत पदस्थापना ने आक्रमणकारियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बनाने से उन्हें रोके रखा, जो धर्मान्तरित हुए इन्हें समाज से बहिष्कृत करके सभी आपसी सम्बन्धों से उन्हें अलग कर दिया। वर्ण और जाति अपनी सभी वर्जनाओं और आदेशों के कारण हमारी सांस्कृतिक निरन्तरता, हमारी सामाजिक शक्ति की एकता और पुनः एकीकृत होने की पीड़ाजनक खोज करने के लिए हमारे रक्षादुर्ग बन गए।

प्रोमेथियस बाउड नामक अपने दुखान्त नाटक में एडिस्किलस कहता है “तुम्हें इन हजारों दुखों की पीड़ा से भटके हुए देखकर मैं भय से मरा जा रहा हूँ।” वर्ण जाति ने यह सुनिश्चित बनाया कि सहस्राब्दि तक चला विदेशी शासन हमारी सनातन एकता को सहस्राधिक खण्डों में तोड़फोड़ नहीं पाया। वर्णजाति की धारणा ही स्वयं धर्म की आधारभूत एकता का पर्याय बन गई। खतरा बनते विसंस्कृतिकरण के मध्य यह एक व्यवस्था थी, वैवाहिक प्रतिबन्ध लगाकर अपना नैरन्तरिक अस्तित्व बनाए रखने की। यह सामाजिक युक्ति थी, धार्मिक सुरक्षा कवच का स्फटीकरण थी। विदेशी अत्याचारों से सामाजिक उथल-पुथल मची परन्तु अप्रवेश्य सामाजिक दुर्ग बनकर इस अराजकता के विरुद्ध जाति एक मजबूत लौह दीवार बनकर खड़ी हो गई और विदेशी पुरुषों द्वारा उससे आनुवंशिक क्रियाशीलता किए जाने को बलपूर्वक रोकते हुए मजबूती से खड़ी रही।

प्रत्येक सकारात्मक घटना के नकारात्मक पक्ष भी अवश्य होते हैं और विपर्यतः भी ऐसा ही होता है। व्यापार में हो रही वृद्धि, आवागमन के तीव्र साधनों का विकास, स्त्रियों की आधुनिक शिक्षा, समतावादी विचारों का प्रसार, समानता की कानूनी धारणा, तीव्रगति से हो रहे प्रौद्योगिकीय विकास तथा बहुत से अन्य कारणों से वर्णजाति के नकारात्मक बन्धन टूटते जा रहे हैं। फिर भी भारत के राजनैतिक वर्णचित्र पर वर्ण-जाति का शासन उसी तरह चल रहा है तथा वैवाहिक सम्बन्धों में तो वह पूरी शक्ति से सक्रिय बना हुआ है। डोम, सफाईदार और टोकरियां बनाने वाला था, परन्तु कश्मीर में वह कृषक, कुमाऊं में पथरकटा, असम में मछलियाँ पकड़ने वाला, उड़ीसा में लकड़हारा बन गया है। डोम जिप्सी बने विश्वभर में घूमते रहे हैं। अपने को वे रोमनी (रोम डोम से ही निष्पन्न है) कहते हैं।

जातियाँ काफी द्रवणशील थीं और उसके अन्दर सामाजिक सचलता पर कोई रोकटोक नहीं थी। शाकद्वीपी ब्राह्मण शकद्वीप या सीस्तान से चलकर भगवान कृष्ण के पुत्र साम्ब के कोढ़ का उपचार करने यहाँ आए। सूर्यदेव ने साम्ब को शकद्वीप जाकर वहाँ से सूर्यपूजा में निष्णात मग पुजारियों को लाने का परामर्श दिया क्योंकि वही कोढ़ का उपचार कर सकते हैं। एक पूरा पुराण साम्ब पुराण, यह वर्णन करता है कि वहाँ के 18 मग परिवार किस तरह यात्रा करके भारत आए, मुलतान में मित्रवन के पास बस गए और वहाँ के साम्ब मंदिर में अपना सूर्य सम्प्रदाय स्थापित किये। ये सूर्य पुजारी, **विदेवदाद** में दिए आदेशों, नुसखों के अनुसार बरती जाती अपनी स्वच्छता के कारण ब्राह्मण जाति में मिला लिए गए, मिश्र (मित्र, सूर्य) का उपासक होने के कारण उनकी पहली बस्ती को मित्रवन नाम दिया गया। मित्र को अफगानिस्तान की काफिरी विभाषाओं में मिश्र कहा जाता है और आज के मिश्र ब्राह्मण अपनी उस पूर्व गरिमा को उत्तराधिकार में लिए हुए हैं।

1760 में अंग्रेजों के बंगाल विजय के बाद भारत की जानकारी प्राप्त करने के प्रति उनका भारी उत्साह उमड़ पड़ा। संस्कृत लैटिन और ग्रीक (यूनानी) की सहोदरा भाषा थी। ब्रितानी प्रशासक अपनी ग्रामर (व्याकरण) पाठशालाओं में इन्हीं दो शास्त्रीय योरोपीय भाषाओं को सीखा करते थे और संस्कृत की खोज शास्त्रीयता के लिए उन्हीं की उत्साहप्रद खोज का प्रतिफल था। भारोपीय भाषा परिवार के उपस्तर के रूप में सर विलियम जोंस की संस्कृत की खोज ने, पश्चिम की जड़ों के लिए एक नई महान दृष्टि ही प्रदान कर दी। इससे संत सेंट पाल कैथेड्रल में जोंस की प्रतिमा स्थापित कर उसे संत ही बना दिया गया। भारत में किए जा रहे ज्योतिषीय पर्यवेक्षणों ने, उनकी गणनाओं की सुतथ्यता ने उस समय जब समूचा योरोप बर्बर अवस्था में बिना बसा उजाड़ पड़ा था, (जान प्लेफेयर, ब्राह्मणों के ज्योतिष शास्त्र पर कुछ अभिकथन; रिमाक्स ऑन दि एस्ट्रोनोमी ऑफ दि ब्राह्मण, 1790, 135-192) ब्रितानी और फ्रांसीसी ज्योतिर्विदों को चकित कर दिया। एक ब्रितानी सैन्य अभियन्ता, जेन.

चार्ल्स वेलेंसी, लेखकों के एक सम्प्रदाय का संस्थापक था और वह आयरी इतिहास, भाषा और साहित्य के सिद्धान्त निर्धारित किया करता था। 1797 में उसने भारत के ब्राह्मणों द्वारा बनाए संस्कृत ग्रन्थों से सिद्ध किया हुआ 'दि एंशियेंट हिस्ट्री ऑफ आयरलैण्ड, (आयरदेश का प्राचीन इतिहास) नामक ग्रन्थ लिखा। ब्रितानी प्राच्यविद और जर्मनी का समूचा रोमांटिक आन्दोलन मानता था कि संस्कृत और भारतीय पुरावस्तुओं का अध्ययन उसी तरह से पश्चिम में द्वितीय पुनर्जागरण लाने वाला सिद्ध होगा जैसे कि ग्रीक भाषा का ज्ञान प्रथम पुनर्जागरण की स्थापना करने वाला सिद्ध हुआ था। ब्रितानी प्रशासकों और विद्वानों के इस भारत प्रेम ने ईसाई मतवादियों को भारी धक्का पहुँचाया और वे इसे ब्रितानियों का 'भारतोन्माद' कहने लगे। उन्होंने आपस में मिलकर इस 'भारतोन्माद' पर धावा बोल दिया जिसके उदाहरणस्वरूप 1796 में चार्ल्स ग्रांट द्वारा भारत के समाज की हालत के प्रति कहे गए पर्यवेक्षणों को लिया जा सकता है जो ब्रिटिश पार्लियामेंटरी पेपर्स (ब्रितानी संसद के कागज पत्र) में प्रकाशित हुए थे। उसने जोर देकर कहा था कि भारतीय "अत्यधिक गिरे हुए लोग हैं" और अपने नस्ली भेदभाव को उसने नैतिक रंग भी दे दिया और आगे चलकर कहा कि "उसमें और योरोपीय नीतिशास्त्र के रंग में वैसा ही अन्तर है जैसा कि दो जातियों के प्राकृतिक वर्ण में अन्तर हुआ करता है।"

1760 वाले दशक में भारत के प्रति आरम्भ हुए अति उत्साहपूर्ण 'भारतोन्माद' की संरचना पर अन्ततः ब्रितानी 'भारतभय' स्थापित हो गया। यह ईसाई मतवादियों और उपयोगितावादियों की सृष्टि थी। इसके निर्माता चार्ल्स ग्रांट और जेम्स मिल थे। ग्रांट ने शासन, धर्म और नीतिशास्त्र पर छाई हुई हिन्दुओं की संपूर्ण निरंकुशता की बात कही। प्रसिद्ध ईसाई मतवादी पादरी परिवार में जन्मे थामस बैबिंगटन मैकाले ने 1835 में भारतीय शिक्षा पर अपनी टिप्पणी में अंग्रेज बने भारतीयों के श्रेष्ठ माध्यम वर्ग बनने की बात लिखी जो "रक्त और वर्ण में चाहे भारतीय रहे परन्तु अपनी रुचि सम्मतियों, नैतिकता और बौद्धिक दृष्टि से वह अंग्रेज होगा।" विजय के ये मुखौटे भारतीय सभ्यता पर मिल की इस अवधारणा पर टिके हुए थे कि "इस वर्ग की प्रवृत्ति दुष्टतापरक है।" अब भारतीय जातिशास्त्र, एन्थ्रोपोलोजी को संस्कृत के विरोध में खड़ा किया जा रहा था।

इस सारे कार्य ने भारत की भूमि, उसके मस्तिष्क और हृदय के त्रित्व की पावनता को बौद्धिक दृष्टि से पतन की ओर पहुँचा दिया।

भारत भूमि को विजित कर लिया गया था। इसका औचित्य अरस्तू में खोजा गया जिसने पारसियों की परतंत्रता या अस्वातन्त्र्य को यूनानियों के स्वातन्त्र्य से भिन्न करके बताया था। पुनर्जागरण काल में इसका ओटोमन साम्राज्य से युरोप को पृथक बताने के लिए उपयोग किया गया। फिर इसे भारत के लिए साधारणीकृत कर दिया गया। सर विलियम जोंस ने *एशियाटिक रिसर्च* के प्रथम भाग में 1801 में ही यह

लिखा “हालाँकि हम महत्वाकांक्षी युवराज (अलक्षेन्द्र) के ऋषिगुरु से पूरी तरह सहमत नहीं हो सकते कि एशियाई गुलाम बनने के लिए ही जन्मे हैं, फिर भी एथेंस का कवि पूरी तरह से सही ही प्रतीत होता है जब वह योरोप को सर्वोच्च राजकुमारी और एशिया को इसकी आज्ञापालक दासी बताता है।”

दक्षिणी अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका में दूर-दूर तक फैले नस्ली पृथक्तावाद नस्ली श्वेतिमा को कसकर पकड़ने वाले चरण बन गए। इस नस्ली व्याख्या को पीछे की ओर प्रक्षिप्त करके हजारों वर्ष पूर्व हुए तथा-कथित आर्य आक्रमण पर भी चिपका दिया गया। ब्रिटेन द्वारा भारत की विजय इस तरह इस प्रस्थापना द्वारा न्यायोचित ठहराई गई कि स्वयं भारतीय भी तो प्राचीन काल के आर्य आक्रमणकारी ही हैं। इसीलिए हैवेल के ग्रन्थ का नाम ‘*आर्यन रूल इन इण्डिया*’ (भारत पर आर्य शासन) रखा गया है।

भारत के मस्तिष्क को मैकाले की टिप्पणी के (मिन्-इट) अनुसार दी गयी शिक्षा ने पूरी तरह से प्रभावित किया है कि भारतीयों की बहुसंख्या को ‘अन्तःप्रेषण’ या व्याख्या प्रक्रिया से ही शिक्षित किया जाना चाहिए। उसने आधुनिकीकरण अभिधारणा के अन्तर्गत पाश्चात्यकरण को रखकर भारतीय सभ्यता की जड़ों में पाश्चात्यकरण की पैबन्द लगा दी। ईसाईयत के प्रभाव ने ब्रितानी नीति को भारत की सांस्कृतिक समझ और उपलब्धियों को निरन्तर घटाए जाने और अन्ततः पूरी तरह से मिटा डालने की दिशा की ओर ढकेल दिया। यह प्रक्रिया स्वतन्त्र भारत में भी निर्बाध चलती रही। अभी भी यह प्रवाहमान है और भारत को अभारतीय बना डालने की ओर, ईशोपनिषद के शब्दों में **आत्महनो जनाः** में बदलने तथा अपने से घृणा करने वाला वर्ग निर्मित करने में लगी हुई हैं।

भारत की सामाजिक पदस्थापना और सामाजिक स्वभाव वर्णजाति व्यवस्था में बंधे हुए थे। यह भारत का हृदय ही था जिसने सहस्राब्दियों तक भारत को जीता-जागता बचाए रखा। चारों वर्णों के शीर्ष पर ब्राह्मण था तथा वही धर्म का मर्म भाग, नीतिशास्त्र का आलम्ब और रचनात्मक चिन्तन का सिरमौर था। हिन्दुत्व को ब्रितानी विद्वान-प्रशासकों ने ब्राह्मणवाद नाम दिया। ब्राह्मण ही हिन्दू समाज की शक्ति और सुस्थिरता, निरन्तरता और आत्मविश्वास थे। विद्वत्ता का स्वांग धरे हुए आंग्लवादियों और ईसाईमत वालों ने “ब्राह्मणमतवाद के पतनकारी चरित्र” पर निरन्तर हमले करना जारी रक्खा। वर्णजाति प्रणाली की नस्लवादी व्याख्या की गई और ब्राह्मण को नीचे गिराकर बुरी तरह से रगड़ा गया जो वस्तुतः हिन्दू-धर्म की घोर निन्दा ही थी। हमारे समाज को स्थिरतापूर्वक टिकाए रखने वाले चार स्तम्भबुद्धि की शक्ति, शासन द्वारा विधि व्यवस्था, आर्थिक विकास और श्रमिकों की गतिशील क्रियाशीलताका योगदान सम्मिलित था। इन्हें हिन्दू समाज में इस तरह से स्फटिकवत बना दिया गया था कि ब्राह्मण बुद्धि वैभव और मानवता का संरक्षक हुआ, क्षत्रिय को समाज व्यवस्था का

संरक्षण कार्य दिया गया, वैश्यों ने अर्थव्यवस्था का उत्पादकतापरक प्रबन्ध करने का कार्य सँभाला और अन्त में आने वाले शूद्र कार्य करने वाला श्रमिक बल बना। जर्मन विद्वान पॉल थीमे ने शूद्र को 'पशुद्र' अर्थात् पशुओं को चराने वाला से निष्पन्न किया है। इसका पहला अंश 'पशु' पशु का संक्षिप्त रूप है और द्र एयरोड्रोम के ड्रोम से जुड़ता है जिसका अर्थ है "जहाँ विमान दौड़ते हैं।" ये चारों वर्ण स्वस्थ और विकासमान व्यवस्था में आपस में अन्तःक्रिया करते रहने वाले संघटक थे। भारतवर्ष के दो महानतम महाकवि जिन्होंने रामायण और महाभारत नामक सर्वकालिक आर्ष काव्यों की रचना की, निम्नजाति जन्मा थे। सभी ऋषियों में वे सबसे ज्यादा सम्मानित किए जाने वाले ऋषि हैं और सभी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक परम्पराएं और हमारा साहित्य स्वभाव निर्मित करने वालों में उन्हीं का सर्वाधिक रचनात्मक भारी प्रभाव हम पर पड़ा है।

19वीं शताब्दी के 'भारतभय' ने ही साम्राज्यवाद और आधुनिकवाद के छद्म रूप में प्रकट होकर भारत के बौद्धिक विकास पर अपना कुप्रभाव डाला है। इतना होने पर भी हमारे उभर रहे राजनैतिक परिदृश्य पर जातिवर्ण का भारी प्रभाव पड़ रहा है। हमने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को सभ्यता की आधुनिकता में योग देने वाले पक्ष के रूप में स्वीकार कर लिया है क्योंकि मानव अस्तित्व इसके बिना चल ही नहीं सकता। उसके साथ-साथ हम अपने सामाजिक सामान्यकों को निधि की तरह सँभाले हुए हैं जिसका मर्म भाग और प्रथम इकाई वर्णजाति हैं। यह कोई बलात् लादी गई शिलीभूत श्रेणी विभाजन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक, साम्प्रदायिक, भाषायी और अनेक अन्य कसौटियों के आधार पर बने हुए हजारों समूहों को एक साथ बाँधकर जोड़े रखने में हमारी सहायता भी करता है। पश्चिम की दृष्टि एककेन्द्री और एकल-देववाद और बाइबिल समादेशों का दशीय शासन मानने के कारण श्रेणियों में बाँटी हुई रही है परन्तु भारतीय दृष्टि अद्वैत या द्वैतहीनता की रही और अब भी वैसी ही है जिसमें बहुलता में समरसता होती है। हमने पारगामिता को निधि बनाकर अपनाया क्योंकि सरस्वती प्रज्ञावान और अध्ययनशील ब्राह्मण के सम्मुख प्रकट होकर कहती है मुझ ज्ञाननिधि की विधिवत् रक्षा करो (सेवाधिष ते हम अस्मि, गोपाय मा)। गुरु की सम्मान-पूजा की जाती थी, क्योंकि वही भक्त को गोविन्द तक पहुँचाता था। यदि दोनों एक साथ खड़े हों तो भक्त को पहले गुरु की वन्दना करनी होगी क्योंकि उसकी सहायता मिले बिना गोविन्द को प्राप्त कर पाना संभव नहीं था। वर्णजाति प्रणाली की तीखी कटु आलोचना इसलिए की जाती थी कि गुरु या ब्राह्मण की मर्यादा नष्ट हो जाए और गोविन्द की जगह ईसाईमत वाला देवता प्रतिस्थापित किया जा सके। यह हमारे प्रिय और पावन देश की अनन्तता की सामूहिक सांस्कृतिक हत्या करना था और अब भी यह वैसा ही है।

डा. ब्रजबिहारी कुमार ने विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों और जीवन का, जैसा कि वह अब जिया जा रहा है, श्रमपूर्वक आलोड़न करके भारत के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन में वर्णजाति की सही समयोचित भावना उपस्थित करके भारी ऐतिहासिक सेवा की है। उन्होंने बताया है कि पश्चिमी विद्वत्ता दो उद्देश्य सामने रखकर आगे बढ़ी है और ये दोनों ध्रुव (i) विगत दो शताब्दियों का साम्राज्यवाद अथवा वर्तमान शताब्दी का नवसाम्राज्यवाद तथा (ii) विगत का ईसाईमत प्रचार के उद्देश्यों से ही परिचालित रहे हैं जो अब वर्तमान के सूक्ष्मतर और अदृश्य कार्यात्मक ढंगों में और ज्यादा गूढ़ और जटिल बन चुके हैं। उन्होंने वर्णजाति के आपसी मेल-मिलाप की ओर ले जाने का भी संकेत किया है जिसने भारत की विविधता के आधिक्य को एक साथ जोड़कर रखा है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि इस प्रणाली में लोगों को अपनी जाति बदलने की भी स्वाधीनता थी जैसा कि पावनता के सर्वोच्च स्तरों में देखा जा सकता है। ऋषियों का जन्म किसी भी जाति में होना संभव था। उन्होंने विस्तारपूर्वक साहित्यिक परम्परा के उद्धरण देते हुए इसकी सार्वदेशिकता और गैरनस्ली स्थिति को स्पष्ट बताया है। वर्णजाति कर्तव्यों के पालन की परिपोषक है केवल अधिकारों की ही नहीं और इसमें समसामयिक विधि-निर्माण के लिए सीखने के पाठ भी मौजूद हैं। डॉ. कुमार का यह अध्ययन सर्वसमावेशी और व्याप्ति की दृष्टि से सघन है। उन्होंने बहुत सी मिथ्या धारणाओं को संशोधित किया है जो विगत शताब्दियों से प्रचलित चली आ रही थीं और जिनमें से कुछ अब भी प्रचलित हैं जिन्हें उन्होंने अपनी सरल और सुबोध गद्यशैली के प्रवाह में शास्त्रीय और समसामयिक साक्ष्यों को उपस्थित करके अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। भव्य भारत पर निश्चय ही यह पुस्तक अपना भारी प्रभाव डालेगी और उन्हें वर्णजाति व्यवस्था के खुले परिदृश्य में अपने समाज के निर्माणपरक रचनात्मक सिद्धान्तों, उसकी सामाजिक वास्तविकता और पारिवारिक सम्बन्धों में उसकी व्यावहारिक वैधता, मूल्यों के परिपालन में, मेलमिलाप बढ़ाने में उपयोगिता समझाने में सहायक सिद्ध होगी। डा. कुमार की यह पुस्तक वर्णजाति जीवन को आगे बढ़ाने, सामाजिक वर्गों को एक साथ लाने, पैतृकतया प्राप्त सामान्यकों में अपने प्यारों के साथ मिलकर आनन्दभागी बन जाने में, उनकी समतुल्यता समझाने की वैधता बताती है। डा. कुमार ने हमारे अस्तित्व की वास्तविकता में निहित एक ठोस उपस्तर हमारे आगे प्रस्तुत कर दिया है। हम इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत करते हैं। **तन्मे मनः शिव संकल्पं अस्तु।**

माक्स, गांधी और लोहिया

सत्यमित्र दुबे*

23 मार्च, 2009 से आरंभ हुए डॉ. राम मनोहर लोहिया (1910-1967) ¹ जन्म शती समारोह के साथ पूरे देश में करीब द्वाइ सौ स्थानों पर समारोहों, विचार गोष्ठियों और समाओं का आयोजन हुआ है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने उनके जीवन, दर्शन वैचारिकी एवं कार्यक्रम पर विशेषांक प्रकाशित किया है। उनके निधन (1967) के प्रायः 42 वर्ष बाद जन्म-शती समारोह के माध्यम से इस बात पर व्यापक विचार-विमर्श चल रहा है कि डॉ. लोहिया की समाजवादी वैचारिकी पर माक्स और गांधी का कितना प्रभाव है? विश्व के जाने माने राजनीति शास्त्री प्रो. पाल ब्रास ने 23 मार्च को दिल्ली के मावलंकर हाल में आयोजित कार्यक्रम में डॉ. लोहिया के भारतीय राजनीति में अवदान पर प्रकाश डाला। इसके अलावा 16 अप्रैल, 2009 को उन्होंने अनेक देशों के छात्र-छात्राओं और विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की उपस्थिति में प्रथम “डॉ. राम मनोहर लोहिया स्मारक भाषण 2009 भारत में लोकतंत्र की चुनौतियाँ।” विषय पर दिया। उक्त अवसर पर भी डॉ. लोहिया के सिद्धांत और कार्यक्रम पर माक्स और गांधी के विचारों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है, इस पर भी विचार-विमर्श हुआ।

डॉ. लोहिया की राजनीतिक वैचारिकी उनके सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम, सांस्कृतिक दृष्टिबोध को उनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि, राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव, गांधी जी से संपर्क, जर्मनी में अध्ययन के समय लोकतंत्र, माक्सवाद, नाजीवाद पर छिड़ी बहस, सोशल डेमोक्रेटिव पार्टी, कम्यूनिष्ट पार्टी और हिटलर की नाजी पार्टी की कार्य प्रणाली और भारत में समाजवादी आंदोलन में गहरी भागीदारी के संदर्भ में ठीक से समझा जा सकता है।²

* वरिष्ठ समाजशास्त्री जाने माने समाजवादी चिंतक और डॉ. राम मनोहर लोहिया जन्म शती समारोह समिति (2009-2011) के एक प्रमुख आयोजनकर्ता। 23 मार्च, 2009 को जन्म शती समारोह के उद्घाटन के अवसर पर डॉ. लोहिया और समकालीन विश्व की चुनौतियाँ विषय पर मावलंकर हाल, नई दिल्ली में दिए गए अभिभाषण का यह लेख संशोधित परिवर्धित रूप है।

उनके पिता हीरालाल लोहिया गांधी जी के अनुयायी और राष्ट्रवादी थे। उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने से पूर्व (1929) वे कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग ले चुके थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय में बी.ए. की पढ़ाई के समय वे छात्र राजनीति में सक्रिय थे और नेहरू जी के संपर्क में आ चुके थे। वर्ष 1917 से लेकर वर्ष 1929 के बीच देश और विदेश में ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने विश्व राजनीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) ने पूँजीवाद और पश्चिमी सभ्यता के संकट को उजागर कर दिया। सन 1917 में रूस में बोलशेविक राज क्रांति हुई। सन् 1922 में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट पार्टी ने इटली की राजसत्ता पर कब्जा कर लिया। सन 1918 में भारत में रौलट कानून के विरोध में उठा व्यापक जन-रोष और 1919 में अमृतसर के जलियान वाले बाग में हुए नरमेघ ने पूरे भारत में अंग्रेज सरकार के विरोध की आग में घी का काम किया। देश में गांधी जी के राजनीतिक नेतृत्व का सूत्रपात हुआ। उनके द्वारा आरंभ किए गए असहयोग आंदोलन ने देश में उबाल-साला दिया और पहली बार राजनीति में सामान्य जन की भागीदारी बढ़ी। चीन में मई 1919 में हुए छात्र-आन्दोलन ने चीनी राजनीति की दिशा मोड़ दी। सन 1929 में आरंभ हुई विश्वव्यापी मंदी ने 'राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सिद्धांत' और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सम्मुख गहरा संकट उपस्थित कर दिया।

इन परिस्थितियों के बीच एक ओर तो गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस का देश के सामान्य जन, छात्रों, उभरते नगरीय मध्यम वर्ग और किसानों से संपर्क प्रगाढ़ हुआ और दूसरी ओर रूसी राजक्रांति के प्रभाव स्वरूप बुद्धिजीवियों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के एक छोटे से वर्ग के बीच मार्क्सवाद और समाजवाद की भी चर्चा आरंभ हुई। विदेश में रहते हुए मानवेन्द्र नाथ राय साम्यवादी आंदोलन और मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए। मास्को जाकर वे लेनिन और दूसरे बोलशेविक नेताओं से मिले। उसके बाद गत सदी के बीस के दशक में उन्होंने विश्व साम्यवादी आंदोलन में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। वर्ष 1924 में भारत में कम्युनिष्ट पार्टी की स्थापना हुई। सन 1927 में जवाहर लाल नेहरू अपने पिता मोतीलाल नेहरू के साथ रूस की यात्रा पर गए और वहाँ से समाजवादी विचारों से प्रभावित होकर लौटे।

भारत में इस काल में जो लोग समाजवादी विचारों से प्रभावित हुए उन पर रूस की बोलशेविक क्रांति की सफलता का भावुक प्रभाव और उसके प्रति एक रूमानी आकर्षण मात्र था। मार्क्सवाद की राज्य, अर्थ-व्यवस्था, पूँजीवाद, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की जटिल स्थापनाओं के विषय में भारत में बहुत कम लोगों को सम्यक बोध था। उसके पीछे कई कारण थे। मार्क्स के जीवन काल में ही समाजवादी वैचारिकी से प्रभावित दुनियाँ की सबसे पहली और सर्वाधिक शक्तिशाली सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की जर्मनी में स्थापना हो चुकी थी। इसके संस्थापकों में से अनेक, मार्क्स और एंजेल्स के निकटतम मित्र होते हुए भी, मार्क्सवाद की अनेक वैचारिक स्थापनाओं से गहरा

मतभेद रखते थे। मार्क्स की अधिकतर रचनाएँ जर्मन भाषा में मूल रूप से लिखी गई थीं। मार्क्सवाद पर जर्मनी में चलने वाली बहस का माध्यम भी जर्मन भाषा ही थी। बीसवीं सदी के आरंभिक दशक में मार्क्स की रचनाओं और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के पक्ष अथवा विपक्ष में चलने वाले विमर्श का अभी अंग्रेजी सहित यूरोप की अन्य भाषाओं में भी बहुत कम अनुवाद हो पाया था। भारतीय भाषाओं में तो अनुवाद का प्रश्न ही नहीं उठता था। लेनिन और ट्राट्स्की की मूलभूत रचनाएँ रूसी भाषा में थी। अतः, उनके बौद्धिक चिंतन की भी सटीक जानकारी भारत में कम ही थी। मार्क्सवादी और बोजशेविक साहित्य को भारत लाने अथवा उनके प्रकाशन पर अंग्रेज सरकार की कड़ी रूकावट थी।

इन परिस्थितियों के बीच लोहिया उच्च-अध्ययन के लिए पहले इंग्लैंड गए। वहाँ का औपनिवेशिक साम्राज्यवादी परिवेश उनकी बौद्धिक, राजनीतिक रुचि के अनुरूप नहीं था। अतः वे इंग्लैंड से जर्मनी चले गए। वहाँ पर शिक्षा और शोध का माध्यम जर्मन भाषा थी। उन्होंने जर्मन भाषा सीखी। बर्लिन के हंबोल्ट विश्वविद्यालय में उस समय के दुनियाँ के जाने माने अर्थशास्त्री और उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में समाजवाद के उद्भूत भाष्यकार प्रो. वेर्नर जोबार्ट³ (1863-1941) के निर्देशन में अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट डिग्री के लिए उन्होंने अपना नाम लिखाया।

2

उस समय जर्मन बौद्धिक चिंतन, राजनीतिक प्रणाली और दलीय प्रणाली तीनों संक्रमण के दौर से गुजर रहे थे। मार्क्सवाद के पक्ष-विपक्ष, समाजवादियों-साम्यवादियों के पारस्परिक विभेद, नाजी पार्टी के बढ़ते प्रभाव को लेकर न केवल जर्मनी बल्कि पूरे यूरोप में तर्क-वितर्क चल रहा था। मार्क्सवाद, साम्यवाद, समाजवाद और बोलशेविक क्रांति को लेकर चलने वाली बहस जर्मनी में अधिक गंभीर, तर्कपूर्ण और तथ्यों पर आधारित थी क्योंकि, मार्क्स, एंजेल्स के मित्र एडुआर्ड बर्नस्टीन (1850-1932) और के. जे. कौत्स्की (1854-1938) अभी जिवित थे।⁴ जर्मनी के बाहर इंग्लैंड में फेबियन, गिल्ड और सिंडिकेट समाजवाद पर चलने वाली बहस अंग्रेजी समाज के विचारकों, समाज वैज्ञानिकों और सम्मानित सृजनशील लेखकों को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सम्मानित नाम जी.डी. एच कोल (1889-1959) का था। लेकिन इस धारा के साथ जॉर्ज बर्नार्ड शा, एच. जी. वेल्स, हेराल्ड लास्की जैसी विभूतियों का नाम भी जुड़ा है। जर्मनी के अपने छात्र जीवन काल में लोहिया को इन विचारों, इनसे जुड़े अनुभवों को आत्मसात करने का अवसर मिला जो अन्य भारतीय साम्यवादियों और समाजवादियों को नहीं मिल पाया।

हर दर्शन और वैचारिकी का एक सतत गतिशील पक्ष होता है जिसके परिणाम स्वरूप उसमें परिवर्तन, सुधार संसोधन और नए विचार जुड़ते रहते हैं। बर्नस्टीन एवं

कौत्स्की अपने निजी अनुभवों के आधार पर मार्क्सवाद की सीमाओं और बोलशेविक क्रांति के वाद की बढ़ती अलोकतांत्रिक, अधिनायकवादी दुस्परिणामों की चर्चा कर रहे थे। वे मार्क्सवादी और बोलशेविक क्रान्ति को वैचारिक जड़ता से मुक्ति दिला कर उन्हें गतिशील और लोकतांत्रिक बनाना चाहते थे। लोहिया के आरंभिक बौद्धिक चिंतन के दिशा-निर्देशन में किन्ही न किन्ही रूप में जर्मनी और इंग्लैंड में चलने वाले इस विचार मंथन का प्रभाव पड़ा था जिसे उन्होंने एशिया और भारत की परिस्थितियों के अनुरूप ढालने की चेष्टा की थी। इसी संदर्भ में उनके इस कथन को समझा जा सकता है कि मैं न तो मार्क्स समर्थक हूँ न तो मार्क्स विरोधी। अपनी नासमझी और दलगत संकीर्णता में भारतीय कम्यूनिस्ट उन्हें मार्क्स विरोधी चित्रित करने के लिए सदैव तत्पर रहे।

मार्क्सवाद की सीमाओं और एशिया के संदर्भ में लोहिया की समाजवादी स्थापनाओं की पृष्ठभूमि को दुनिया की पहली समाजवादी पार्टी जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना, उसके राजनीतिक प्रभाव में अप्रत्याशित वृद्धि, उसकी राजनीतिक सीमाओं, बोलशेविक क्रांति की उपलब्धि, उससे जुड़ी आलोचना-प्रत्यालोचना और मार्क्सवाद की सीमाओं पर उदभूत वैचारिक-मंथन के संदर्भ में विश्लेषित किया जा सकता है।

मार्क्स के जीवन काल में ही, एक सिद्धांतकार के रूप में फर्नीनांड लासाल (1825-1864) मार्क्स का प्रखर बौद्धिक प्रतिद्वंद्वी था। मार्क्स के अनुसार जर्मनी में श्रमिक आन्दोलन के जागरण का वास्तविक श्रेय लासाल का ही है। 1860 के दशक में प्रूथॉ के अतिरिक्त लासाल का ही एक ऐसा बौद्धिक व्यक्तित्व था जो जर्मनी में विचारधारात्मक प्रभाव में मार्क्स से बहुत आगे था। 1863 में अपने एक खुले पत्र में लासाल ने जर्मन वर्किंग क्लास सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। मार्क्स उस समय सर्वहारा की एकता और क्रांति पर जोर दे रहा था और किसी तरह के साम्यवादी दल की स्थापना का विरोधी था। मार्क्स का बल राष्ट्र पर नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिक वर्ग की एकता पर था। क्रांति के बाद संक्रमण काल में मार्क्स सर्वहारा की अधिनायक शाही का पक्षधर था। मार्क्स के इन विचारों के विपरीत एक प्रखर समाजवादी होते हुए भी लासाल ने समाजवाद की पार्टी बनाने पर पूरा जोर दिया। सन 1863 के उसके पत्र के बाद जो दल बना था उसे और एक अन्य दल से मिला कर सन 1875 में जर्मनी में एक एकीकृत समाजवादी दल की स्थापना हुई जिसका नाम रखा गया जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी। अपने जीवन के अंत काल में मार्क्स ने भी इस दल का समर्थन किया। सन 1896 में जो द्वितीय कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल बना उसकी स्थापना में जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की प्रमुख भूमिका थी। अनेक छोटे राज्यों में विभाजित जर्मनी की एकता, लोकतंत्र, राष्ट्र-राज्य की अवधारणा और समाजवाद लासाल की विचारधारा के आधार स्तंभ थे।

कोल का मानना है कि सन 1848 में पेरिस कम्यून के पतन के बाद, जर्मनी में समाजवाद की अलख जगाने का गौरवपूर्ण श्रेय मार्क्स को नहीं बल्कि लासाल को दिया जाना चाहिए।

लासाल की इस लोकतांत्रिक समाजवादी परंपरा को वर्नस्टीन और कौत्स्की ने आगे बढ़ाया। इसमें लोहिया के शोध-निदेशक जॉबार्ट के अत्यंत प्रखर समाजवाद संबंधी आरंभिक विचारों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। हम्बोल्ट विश्व विद्यालय में उस समय विश्व-विश्रुत वैज्ञानिक आइंस्टीन और समाजवादी विचारक शूमाखर भी प्राध्यापक थे। शुमाखर डॉ. लाहिया के शोध प्रबंध के परीक्षक भी थे। जोम्बार्ट द्वारा 1896 में समाजवाद पर दी गई भाषण-माला ने पूरे यूरोप में उन्हें एक समाजवादी चिंतक के रूप में स्थापित कर दिया था। जब यह भाषण-माला पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई तो बीस भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास से संबंधित शोधग्रंथ उसकी गहन विद्वता और मौलिक चिंतन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। बोलशेविक क्रांति के बाद लेनिन के जीवन काल की अधिनायकवादी ज्यादतियों से जोम्बार्ट का मार्क्सवाद से मोगभंग हो गया।

बर्नस्टीन सोशन डेमोक्रेटिव पार्टी के मुखपत्र का संपादक था। मार्क्स तथा एंजेल्स से उसकी व्यक्तिगत मित्रता थी। वर्ष 1880 में मार्क्स और एंजेल्स से मिलने वह लंदन गया था। लंबे लंदन प्रवास के दौरान वह फेबियन समाजवादियों के संपर्क में आया। गहन विचार-विमर्श के बीच वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मार्क्सवाद में संशोधन की आवश्यकता है। कट्टर मार्क्सवाद से विरत होकर सन 1901 में उसने 'संशोधन वाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसका प्रयोग कट्टर मार्क्सवादी एक गाली की तरह करते रहे हैं। एंजेल्स इस बात से पूरी तरह परिचित था कि पूँजीवाद की मार्क्सवादी व्याख्या बर्नस्टीन के अत्यंत मौलिक विश्लेषण के अनुसार उन्नीसवीं सदी के अंत के बदलते पूँजीवाद की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों से मेल नहीं खाती है। बर्नस्टीन, मार्क्स की प्रतिभा और विश्लेषण क्षमता का प्रशंसक होते हुए भी उसकी सैद्धांतिक मान्यताओं के पुनर्विचार पर मार्क्स के जीवन-काल में ही बात करने लगा था।

मार्क्सवादी सैद्धांतिकी की ऐतिहासिक-तार्किक दुर्बलताओं पर विचार करने और पूरे यूरोप में लोकतांत्रिक समाजवादी आंदोलन की आधारशिला को पुष्ट करने में मार्क्स एंजेल्स के अप्रतिम साथी रह चुके कौत्स्की का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वर्नस्टीन के साथ वह मार्क्स, एंजेल्स का उत्तराधिकारी समझा जाता था। एंजेल्स के निधन के बाद द्वितीय कम्यूनिस इंटरनेशनल काल (1899-1914) में वह मार्क्सवाद का सर्वाधिक सच्चा भाष्यकार माना जाता था। उस काल में वह 'मार्क्सवाद का पोप' कहा जाता था। मार्क्स और एंजेल्स से उसकी प्रगाढ़ मैत्री को इस बात से समझा जा सकता है कि वह एंजेल्स की वसीयत का गवाह था। लेनिन भी उसका बहुत आदर

करता था। लेकिन बोलशेविक क्रांति के बाद जब रूस की ड्यूमा अथवा संविधान सभा, जिसमें बोलशेविक अल्पमत में थे, भंग कर दी गई, अधिनायकशाही लागू कर दी गई और विरोधियों को अनेक तरह की यातना दी जाने लगी तो कौत्स्की ने उसका विरोध किया। लेनिन से उसके निजी रिश्तों में भी दरार पड़ गई। सैद्धांतिक स्तर पर वर्नस्टीन से भी उसके मतभेद उभरकर सम्मुख आए।

वर्नस्टीन, कौत्स्की और शूमाखर की लोकतांत्रिक समाजवादी सैद्धांतिकी ने जर्मनी में सोशल डेमोक्रेटिव पार्टी को उच्चस्थ बौद्धिक संपन्नता और अद्भुत संगठनात्मक क्षमता प्रदान किया। जर्मनी में प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व राजशाही अभी कायम थी। इसके वावजूद वर्ष 1914 से पूर्व सोशल डेमोक्रेटिव पार्टी के अपने 70 से अधिक समाचार पत्र थे, श्रमिकों की सहायता के लिए स्थापित किए गए सैकड़ों सहायता केन्द्र थे और उसकी सदस्यता 10 लाख से ऊपर थी। मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष और पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष को स्वीकार करते हुए भी सोशल डेमोक्रेट्स ने लोकतांत्रिक राज्य के द्वारा असमानता की समाप्ति, कल्याणकारी राज्य की स्थापना, पर बल दिया। जर्मनी के समाजवादियों के अपने ऐतिहासिक अनुभव सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के व्यापक प्रसार और जर्मनी की संसद में लोकतांत्रिक तरीके से प्राप्त किए गए संख्या बल पर आधारित थे। रूस की संसद और जनता के बीच बोलशेविक सब मिला कर बहुमत को अपने पक्ष में कर पाने में अक्षम थे, अतः उन्होंने तानाशाही का सहारा लिया। तानाशाही के कारण कौत्स्की और वर्नस्टीन मुसोलिनी, स्टालिन और हिटलर को एक ही तराजू पर तौलते थे। मार्क्सवादी सैद्धांतिकी और रूस की साम्यवादी सरकार की कार्यप्रणाली की इतनी कटु बौद्धिक आलोचना जब उनके विरोधियों द्वारा नहीं बल्कि उनके सहकर्मी रहे जर्मन समाजवादियों द्वारा हो रही थी, तब उन परिस्थितियों के बीच राममनोहर लोहिया अपने अध्ययन के सिलसिले में जर्मनी पहुँचे थे।

प्रथम विश्वयुद्ध में पराजय और उस पर बलात लादी गई संधि की शर्तों के कारण जर्मनी के राष्ट्रवादी गौरव-बोध को गहरा आघात लगा था। युद्ध के बाद सोशल डेमोक्रेट्स जर्मनी पर लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकार के द्वारा सबसे बड़ी पार्टी के रूप में शासन कर रहे थे। युद्ध के बाद जर्मनी में जिस ढंग की आर्थिक गिरावट, भीषण मुद्रास्फीति, जबरदस्त बेरोजगारी और अनियंत्रित महंगाई की मार थी, उसका समाधान ढूँढ़ पाना कमजोर हो गए जर्मनी और उसकी सरकार के लिए दुःस्साध्य सिद्ध हो रहा था। कम्यूनिस्ट सोशल डेमोक्रेट्स को, अपना असली दुश्मन मानते थे। समाजवादियों का मनोबल गिरा हुआ था। हिटलर द्वारा प्रतिपादित विचारधारा और नाजी पार्टी के संगठन का तेजी से प्रचार-प्रसार हो रहा था। अपने छात्र जीवन में लोहिया को समाजवादियों के गिरे मनोबल के कारण उनमें पहल और संघर्षशीलता के अभाव, कम्यूनिस्टों के भीतरघात और नाजी पार्टी के प्रभाव-विस्तार को देखने, समझने और उसका विश्लेषण करने का अवसर मिला।

अपने जर्मनी प्रवास के दिनों में राम मनोहर लोहिया की रूझान गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले स्वाधीनता संग्राम में बढ़ती गई। उसके साथ ही उन्होंने यूरोप केन्द्रित अर्थशास्त्र, यूरोपीय राजनीतिक प्रणाली और यूरोपीय राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली का गहराई से अध्ययन, निरीक्षण और परीक्षण किया। एडम स्मिथ, कार्ल मार्क्स और कीन्स का यूरोप केन्द्रित अर्थशास्त्र एशिया और आफ्रीका की समस्याओं के समाधान के लिए उन्हें अधूरा लगा। इंग्लैण्ड और फ्रांस की पूँजीवादी जनतंत्रवादी, मध्य यूरोप की समाजवादीजनतंत्रवादी और रूस की साम्यवादी राजनीति की आंतरिक विसंगतियों से वे परिचित हुए। जर्मनी के सोशल डेमोक्रेट्स में उन्हें इच्छाशक्ति, साहस और संघर्षशीलता का अभाव दिखाई पड़ा। इस कारण हिटलर और नाजी पार्टी के लड़ाकू भावनात्मक, राष्ट्रवादी प्रभाव को रोक सकने में वे अक्षम सिद्ध हुए। कम्यूनिस्टों के दुहरे राजनीतिक चरित्र को भी उन्होंने जर्मनी में देखा और परखा। विश्वविद्यालय में अपने शोध प्रबंध की लंबी, विद्वतापूर्ण मौखिक परीक्षा के बाद, उनके एक परीक्षक और समाजवादी चिंतक प्रो. शूमाखर ने बढ़ते नाजी खतरे को देखते हुए लोहिया को यथाशीघ्र जर्मनी छोड़ने की सलाह दी। जर्मनी से लौटा यह विद्वान युवक भारत में आते ही गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले स्वाधीनता संग्राम का एक तेजस्वी सैनिक बन गया। वह लौटा तो समाजवादी बन कर लेकिन मार्क्सवाद की आंतरिक विसंगतियों और यूरोपिय लोकतांत्रिक समाजवाद की कमजोरियों से वह पूर्णतया भिन्न था।

3

सन् 1933 के शुरू में जब डॉ. लोहिया भारत पहुंचे तो देश के राजनीतिक परिवेश में निराशा व्याप्त थी। अनेक लोगों द्वारा गांधी जी की राजनीति की आलोचना हो रही थी। सन 1932 में बिहार, उत्तर प्रदेश और तत्कालीन बंबई प्रेसीडेंसी की जेलों में बंद राजबंदियों के समूह कम्यूनिस्टों से अलग कांग्रेस के अंदर ही समाजवादी पार्टी की स्थापना के विषय में विचार विमर्श कर रहे थे। 17 मई, 1934 को पटना में समाजवादी विचारधारा से प्रभावित कार्यकर्ताओं की बैठक में कांग्रेस के अंदर ही सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना का निर्णय लिया गया। इस बैठक के नेताओं में प्रमुख थे जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, यूसुफ मेहर अली, मीनु मसानी, कमला देवी चट्टोपाध्याय, संपूर्णानंद, अच्युत पटवर्धन, ए. वी. मेनन, अशोक मेहता, रामनंदन मिश्र, शिवनाथ बनर्जी, डॉ. राम मनोहर लोहिया, मुंशी अहमदीन तथा फरीदुल हक अंसारी। राष्ट्रीय आंदोलन, भारत की आजादी और समाजवाद के सवाल पर तो ये सभी एकमत थे लेकिन समाजवाद की उनकी अवधारणाओं में बड़ी भिन्नता थी। इन सभी नेताओं पर जवाहर लाल नेहरू के व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक विचारों का गहरा प्रभाव था। अमेरिका के छात्र जीवनकाल में जयप्रकाश पर मानवेन्द्र नाथ राय के विचारों का प्रभाव पड़ा था और वे अपने को मार्क्सवादी मानते थे। आचार्य नरेन्द्र देव बौद्ध दर्शन

और भारतीय परंपरा के प्रभाव के साथ मार्क्सवादी थे। संपूर्णानंद समाजवाद को वेदांत के साथ जोड़ते थे। उन्होंने समाजवाद पर हिंदी में पहली पुस्तक भी लिखी थी। कांग्रेस समाजवादी पार्टी का दृष्टिकोण रूस में चलने वाले समाजवादी प्रयोगों के प्रति सकारात्मक था। पार्टी का उस समय जो तदर्थ नीति वक्तव्य अनुमोदित हुआ वह पूर्णतया मार्क्सवादी था।

डॉ. लोहिया की अधिकृत जीवनी लेखिका इंदुमती केलकर के अनुसार उस समय लोहिया जवाहर लाल के चहेते जरूर थे लेकिन उनके मित्र नहीं थे। इसी तरह वे न तो मार्क्सवादी थे न मार्क्स विरोधी थे। वे न तो गांधीवादी थे और न गांधीवाद के विरोधी थे। सोवियत रूस के नेतृत्व में पूरी दुनिया में चल रहे समाजवादी आंदोलन से जवाहर लाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण और मानवेन्द्र नाथ राय अत्यधिक प्रभावित थे। लोहिया का विश्वास था कि नई विश्व-व्यवस्था और समाजवादी आंदोलन के लिए पूरी दुनिया का नेतृत्व करने की क्षमता सोवियत रूस द्वारा परिभाषित साम्यवाद के पास नहीं है। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के अंदर लोहिया अपने विचारों को रखते थे लेकिन वहाँ वे अकेले पड़ जाते थे। अपने विचारों को सैद्धांतिक रूप देने का उनको अभी समय नहीं मिला था।

21-22 अक्टूबर, 1934 को बंबई में आयोजित सम्मेलन में संपूर्णानंद की अध्यक्षता में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की विधिवत स्थापना हुई। लोहिया पार्टी की कार्य समिति में सम्मिलित किए गए और उन्हें पार्टी के मुख पत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट' के संपादन का दायित्व भी सौंपा गया। जयप्रकाश नारायण पार्टी के महामंत्री थे। पार्टी की घोषित नीतियों के अंतर्गत ही डॉ. लोहिया को इस पत्र के माध्यम से अपनी बात कहने का अवसर मिला। अत्यंत अभाव के बीच वे कलकत्ता से 'कांग्रेस सोशलिस्ट' का प्रकाशन और संपादन करते रहे। अपने एक लेख में गांधी जी के ग्राम सुधार कार्यक्रम की आलोचना करते हुए डॉ. लोहिया ने लिखा कि इसकी जगह विदेशी राज को हटाने के लिए पूरी ताकत लगानी चाहिए। जयप्रकाश नारायण मार्क्सवादी थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना पर कम्युनिस्टों द्वारा अनेक तरह से अभद्र राजनीतिक शब्दावली का प्रयोग किया गया था। फिर भी जयप्रकाश जी समाजवादियों और कम्युनिष्टों की एकता के प्रबल समर्थक थे। भारत में उस समय कम्युनिस्ट पार्टी गैर कानूनी घोषित थी। उसे कानूनी ढंग से अपनी राजनीतिक गतिविधि संचालित करने के लिए एक मंच की आवश्यकता थी। विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन का रूस के नेतृत्व में स्वाधीनता की लड़ाई में उपनिवेशों में संलग्न संगठनों के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा था। सन 1936 में कोमिंटेर्न ने फरमान निकाला कि कम्युनिस्टों को स्वाधीनता आंदोलन वाले संगठनों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए। इन अंतर्राष्ट्रीय आदेशों के बाद कम्युनिस्टों ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रति सहयोग का रूख अपनाया। गांधी जी का कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना काल से ही कम्युनिस्टों ने

लगातार विरोध किया था। लेकिन अब वे कांग्रेस में भी सम्मिलित होने के लिए उतावले थे। सन 1936 के मेरठ अधिवेशन में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने दरवाजे कम्यूनिस्टों के लिए खोल दिए और नीचे से लेकर ऊपर तक बहुत से कम्यूनिस्ट कार्यकर्ताओं और नेताओं की नियुक्ति पार्टी के पदों पर कर दी गई। कम्यूनिस्टों ने अपनी कूट चालों और जयप्रकाश जी का उनके प्रति नरम दृष्टिकोण के चलते दक्षिण भारत के प्रांतों पर अपना वर्चस्व कायम कर लिया। सन 1938 में लाहौर अधिवेशन में उन्होंने पूरी पार्टी पर भी नियंत्रण कर लेने की चेष्टा की। कम्यूनिस्टों की इस भीतरघाती प्रवृत्ति के विषय में लोहिया शुरू से जयप्रकाश को सजग करने की चेष्टा करते रहे। अंत में जयप्रकाश जब कम्यूनिस्टों के साथ स्थापित एकता तोड़ने के लिए सहमत नहीं हुए तो लोहिया, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी और अशोक मेहता ने कार्यसमिति से त्याग पत्र दे दिया। अंत में लाहौर अधिवेशन में जयप्रकाश भी कम्यूनिस्टों के प्रति सचेत हुए और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने कम्यूनिस्टों को पार्टी से निकाल देने का निर्णय लिया।

सन 1936 में जवाहर लाल नेहरू जब कांग्रेस अध्यक्ष हुए तो कांग्रेस के अंदर 'विदेश विभाग' स्थापित किया गया और डॉ. लोहिया ने नेहरू जी और आचार्य नरेन्द्र देव के आग्रह पर इसका सचिव होना स्वीकार किया। उस समय जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस की सहानुभूति रूस में होने वाले समाजवादी प्रयोगों के साथ थी। लेकिन यूरोप में युद्ध के मंडराते बादलों को भांप कर सुभाष बाबू भारत की आजादी के लिए इंग्लैण्ड के दुश्मनों हिटलर शासित जर्मनी और मुसोलिनी शासित इटली की सहायता लेने से परहेज करने के पक्षधर नहीं थे। नेहरू जी की सहानुभूति उदारलोकतंत्रवादी इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ थी। विदेश विभाग के सचिव के रूप में डॉ. लोहिया ने फास्टिवादी जर्मनी-इटली, पूँजीवादी-लोकतंत्रवादी इंग्लैण्ड-फ्रांस और साम्यवादी रूस से अलग हटकर एशिया-अफ्रीका के उपनिवेशवाद के दमन और शोषण से पीसे जा रहे देशों की एकता पर बल दिया। स्टालिन ने अपने विरोधियों को निर्मूल करने के लिए 'मास्को ट्रायल' का नाटक कर हजारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया तो लोहिया ने न केवल स्टालिन और रूस का बल्कि साम्यवाद और रूस में चलाए जा रहे मार्क्सवाद का भी पुनर्मूल्यांकन किया। उन्होंने लिखा कि रूस शांति का अग्रदूत और नई मानवीय संस्कृति की प्रयोग भूमि न रह कर, कम्यूनिस्ट पार्टी में स्टालिन गुट की तानाशाही का केन्द्र बन गया है। बाद में साम्यवादी रूस ने जब हिटलर के जर्मनी से समझौता कर लिया, पोलैंड पर हमला कर उसके एक हिस्से पर कब्जा कर लिया और जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर हमला किया तो जर्मनी से अपनी मित्रता निभाते हुए खामोश रहा तो रूसी साम्यवाद और उसके साम्राज्यवादी मंसूबों की कलई खुल गई। सन 1937 में संयुक्त प्रांत में चुनाव के बाद कांग्रेस की सरकार थी। एक आन्दोलन के सिलसिले में कुछ प्रदर्शनकारी पुलिस की गोली से मारे

गए। डॉ. लोहिया ने 'कांग्रेस बुलेटिन' में गोली चलाए जाने के विरोध में लिखा। नेहरू जी ने पंत जी की शिकायत पर डॉ. लोहिया से कहा कि आप को ऐसा नहीं लिखना चाहिए था। इससे कांग्रेस की बदनामी होती है। इस पर डॉ. लोहिया ने कड़ा प्रतिवाद जताया था।

इस तरह हम देखते हैं कि गांधी जी के नेतृत्व में आस्था रखते हुए भी डॉ. लोहिया न तो कृपलानी जी एवं राजेन्द्र बाबू जैसे गांधीवाद और न तो रचनात्मक कार्यकर्ताओं जैसे अंध गांधी-भक्त थे। इसी तरह नेहरू जी से अत्यंत आत्मीय संबंध रहते हुए भी सैद्धांतिक मसलों पर वे खुलकर उनसे असहमत होते थे। जर्मनी के राजनीतिक दलों के अपने अनुभव के आधार पर भारत में भी वे कम्यूनिस्ट पार्टी के भीतरघात के प्रति पहले से सजग थे। प्रतिवद्ध समाजवादी होते हुए भी अपने जर्मन प्रवास के अध्ययन से वे मार्क्सवाद की आंतरिक विसंगतियों से पूर्णतया परिचित थे। रूसी क्रांति के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी स्टालिन द्वारा रूस को यंत्रणा गृह और कट्टर तानाशाही में बदल देने के वे घोर विरोधी थे। उस समय लोहिया की आयु मात्र 26 वर्ष थी। उनके राजनीतिक जीवन का यह आरंभिक निर्माण काल था लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्थिति और भारतीय राजनीति की उनकी समझ तथ्यपरक, विवेकपूर्ण और अत्यंत प्रौढ़ थी।

4

1936 से लेकर 1942 के बीच डॉ. लोहिया समसामयिक विषयों विश्व राजनीति और कांग्रेस की विदेश नीति पर टिप्पणियाँ, लेख और पुस्तिकाएँ तो लिखते रहे लेकिन अपने शोध-प्रबंध लिखने के बाद राजनीति की गहमा-गहमी में उन्हें गंभीर लेखन का अवसर नहीं मिला। 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भूमिगत दिनों में जो थोड़ा बहुत अवकाश मिला तो उन्होंने तय किया "परस्पर विरोधी पड़ने वाली कई असंगतियों से ओतप्रोत मार्क्सवाद के प्रत्यक्ष अनुभवों और दर्शनों से मैं चकरा गया और इसी समय मैंने तय किया कि मार्क्सवाद के सत्यांश की तलाश करूँगा, असत्य को मार्क्सवाद से अलग करूँगा। अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, इतिहास और दर्शनशास्त्र मार्क्सवाद के चार प्रमुख आयाम रहे हैं। इनका विश्लेषण करना भी मैंने आवश्यक समझा। परन्तु अर्थशास्त्र का विश्लेषण जारी ही था कि मुझे पुलिस पकड़ कर ले गई।" अर्थशास्त्र का यह विश्लेषण उनके दीर्घ लेख 'इकोनोमिक्स आफ्टर मार्क्स' अथवा 'मार्क्सोत्तर अर्थशास्त्र' में संकलित है। बाद में यह लेख पहले उनकी पुस्तक 'फ्रैगमेंट्स ऑफ ए वर्ल्ड माइंड', 1951 और उसके बाद एक वृहद ग्रंथ 'मार्क्स, गांधी एंड सोशलजिज्म (1963) के अंतर्गत एक बड़े अध्याय के रूप में संकलित है। इस लेख के अंतर्गत डॉ. लोहिया कार्ल मार्क्स के दरिद्रीकरण, अतिरिक्त मूल्य और पूँजीवाद संबंधी सिद्धांत से अत्यंत तार्किक, विद्वतापूर्ण असहमति व्यक्त करते हैं। सामाजिक रूपांतरण के लिए

डॉ. लोहिया संघर्ष को अनिवार्य मानते हैं लेकिन उनकी मार्क्स से असहमति है। लोहिया मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद और मात्र आर्थिक कारणों से होने वाली सामाजिक असमानता से भी अपनी वैचारिक असहमति व्यक्त करते हैं जो उनकी पुस्तक 'व्हील ऑफ हिस्ट्री' (1955) अथवा 'इतिहास चक्र' में विश्लेषित है।⁵

मार्क्स के विश्लेषण में आदिम समाज से आरंभ कर पूँजीवाद के विकास और सर्वहारा की क्रांति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति के बाद साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना तक का ऐतिहासिक विकास क्रम एकरेखीय है। उसमें निम्न अवस्था से उच्च अवस्था की ओर समाज वर्ग संघर्ष के माध्यम से बढ़ता रहता है। मार्क्स के लिए वर्ग की रचना का आधार आर्थिक अथवा भौतिक है। एक अवस्था से दूसरी उच्च अवस्था की ओर जब समाज विभिन्न भौतिक स्तर पर परस्पर विरोधी हित वाले वर्गों के संघर्ष के कारण बढ़ता है तो आर्थिक उत्पादन की पद्धति में भी परिवर्तन होता है। मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार भूस्वामी सामंत वर्ग और उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से रहित भूमिहीनों के संघर्ष से सामंती व्यवस्था का खात्मा हुआ और उसके स्थान पर एक नई पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। इस नए व्यवस्था में उत्पादन को साधनों पर स्वामित्व वाले और उनसे रहित दो वर्ग थे। इस नयी उत्पादन पद्धति वाली अर्थव्यवस्था में सामंत का स्थान कारखाने के श्रमिक ने ले लिया। कृषि जन्य उत्पादन पद्धति के स्थान पर नई पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन पद्धति कारखानों पर आधारित होती है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की तकनीक और उत्पादन के संबंध सामंती व्यवस्था की उत्पादन पद्धति, कृषि आधारित तकनीक और उत्पादन के संबंध पूर्णतया भिन्न होते हैं।

डॉ. लोहिया सामाजिक-ऐतिहासिक रूपांतरण के एक रेखीय विकासवादी अवधारणा के स्थान पर चक्रात्मक परिवर्तन की चर्चा करते हैं। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने चार युगों के चक्र के माध्यम से जगत के सृजनविनाशपुनर्सृजन की अवधारणा की कई सहस्राब्दियों की पूर्व चर्चा की थी। आधुनिक युग में टॉयनबी जैसे इतिहासकार, स्पेंगलर और सोरोकिन जैसे समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन की चक्रात्मक अवधारणा के पृष्ठपोषक हैं। लोहिया का मानना है कि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को विश्व के हर समाज पर एक समान ढंग से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। पूरी दुनिया के विभिन्न समाजों और क्षेत्रों में दो तरह की प्रक्रियाएँ काम करती रही हैं। पहली प्रक्रिया के अन्दर अनेक समाजों में देखा गया है कि उनकी मुक्त, गतिशील रूपांतरण की प्रक्रिया (समझने के लिए जिसे वर्ग कहा जा सकता है) अनेक तरह के सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक दबावों के मध्य अंतर्मुखी, उमुक्त, स्थिर, जड़ और अपरिवर्तनशील (समझने के लिए जिसे 'जाति' कहा जा सकता है) हो जाती है। परिस्थितियों में परिवर्तन होता है, जड़ता टूटती है और फिर से इन स्थिर बने समाजों में गतिशीलता आती है। एक जमाने में भारत और चीन के समाज सर्वाधिक

विकसित और गतिशील थे। ऐतिहासिक कारणों से उनमें जड़ता और अपरिवर्तनशीलता आई और वे फिर तेजी से गतिशील हो रहे हैं। यूरोप और उत्तरी अमेरिका जो गत चार-पाँच सदियों से सर्वाधिक गतिशील और समुन्नत दिखाई पड़ रहे थे, आज सिकुड़ रहे हैं। इस तरह लोहिया इस चक्रात्मक सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि 'वर्ग' जाति में और 'जाति' वर्ग में रूपांतरित होते रहे हैं। इसी तरह विश्व में सभ्यताओं और समाजों का भी उत्थान-पतन होता रहा है और चक्रात्मक रूपांतरण की प्रक्रिया चलती रही है। मार्क्स से डॉ. लोहिया का दूसरा विभेद सामाजिक विषमता के संरचनात्मक आधारों को लेकर है। मार्क्सवादी विश्लेषण में असमानता, शोषण, वर्चस्व का मूल आधार आर्थिक और भौतिक है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया और हर ऐतिहासिक काल में एक ओर धनी, वर्चस्ववादी और शोषक वर्ग और दूसरी ओर निर्धन, शोषित और दमित दो वर्ग सर्वदा रहे हैं। डॉ. लोहिया के अनुसार आर्थिक भौतिक कारणों के अतिरिक्त पूरी दुनिया में विषमता, शोषण और दमन को बढ़ाने में लिंग भेद (नर-नारी असमानता) रंग-भेद (काले-गोरे के बीच अफ्रीका और अमेरिका में असमानता) जन्म-जाति (भारत और दक्षिण एशिया में कथित उच्च और निम्न जातियों के बीच की असमानता) जैसे कारकों की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इस तरह मार्क्सवादी 'वर्ग' की अवधारणा समुच्चित सामाजिक विषमता का विवेचन नहीं कर पाती है।

मार्क्सवादी व्याख्या में पूँजी का पूँजीपति वर्ग के हाथ में एकत्रीकरण आम लोगों के दरिद्रीकरण, श्रमिकों की मजदूरी में कटौती, अतिरिक्त उत्पादन और उससे अर्जित अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपतियों द्वारा हड़पे जाने के साथ जुड़ा है। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक पूँजीवादी काल में पूँजी के कुछ सीमित लोगों के बीच केन्द्रीकरण/ एकत्रीकरण और दूसरी ओर आम जन के दरिद्रीकरण की प्रक्रिया चल रही थी। लेकिन पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में कारपोरेट गवर्नेंस और शेयर बाजार के नाते जो परिवर्तन आया उससे सर्वहारा की अवधारणा मिटती चली गई। श्रमिक वर्ग वेतन, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, ट्रेड-यूनियन, राजनीतिक शक्ति के जरिए धीरे-धीरे पूँजीवाद के गढ़ पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में मध्य और उच्चमध्य वर्ग में परिवर्तित होता गया है।

वस्तुतः, औद्योगिककरण, पूँजीवाद के उत्थान और विकास, पूँजी के निर्माण, एकत्रीकरण और साम्राज्यवाद के पारस्परिक संबंधों को लेकर भी लोहिया और मार्क्स के विश्लेषण में विभेद है। मार्क्सवादी सैद्धांतिकी में पूँजीवाद की सर्वाधिक विकसित और अंतिम अवस्था साम्राज्यवाद है। लोहिया, ऐतिहासिक परिघटनाओं के माध्यम से यह साबित करते हैं कि उपनिवेशों की लूट और साम्राज्यवादी विस्तार ने पश्चिमी यूरोप में औद्योगिककरण और पूँजीवादी के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साम्राज्यवादी विस्तार ने वस्तुतः पूँजीवाद के जन्म और विकास में योगदान दिया। बंगाल की लूट और वर्ष 1764 में मुगल बादशाह द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंपने के बाद इंग्लैंड में सन 1768 में

पहले आधुनिक कोयले से चलने वाली फैक्टरी की नींव पड़ी। पहले बंगाल और बाद में भारत के दूसरे हिस्सों, एशिया-अफ्रीका के देशों से इंग्लैण्ड में जो पूँजी का हस्तांतरण हुआ उसने वहाँ औद्योगिकरण, पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व को मजबूत किया। कट्टर मार्क्सवादी और भारतीय साम्यवादी इस ऐतिहासिक तथ्य से अपनी आँखें मूंद मात्र मार्क्स और लेनिन के उदाहरण देते रहे हैं।

मार्क्स की ऐतिहासिक-भौतिकवादी व्यवस्था के अन्तर्गत समाज सामंतवाद से पूँजीवाद और पूँजीवाद से समाजवाद साम्यवाद की ओर बढ़ता है। इस तरह सामंतवाद की तुलना में पूँजीवाद एक प्रगतिशील और अपरिहार्य अवस्था है जिसके बाद ही समाजवाद साम्यवाद की कल्पना की जा सकती है। सामाजिक उद्विकास की यह मार्क्सवादी व्याख्या कुछ दूर तक पश्चिमी यूरोप और विशेष कर इंग्लैण्ड और जर्मनी के सन्दर्भ में ही लागू होती है। मार्क्स का स्वयं मानना है कि उसका विश्लेषण 'एशियाई उत्पादन पद्धति' पर लागू नहीं होता है।

लोहिया का मानना है कि उत्पादन में विशाल मशीनों के उपयोग, यूरोपीय सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सत्ता और उत्पादन पद्धति के केन्द्रीकरण की कसौटियों पर पूँजीवाद और साम्यवाद जुड़वाँ भाई हैं। इनमें कोई अंतर नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों का नियंत्रण निजी हाथों में होता है जबकि साम्यवादी व्यवस्था में इस पर राज्य का स्वामित्व होता है। समुदाय और सामान्यजन दोनों व्यवस्थाओं में सत्ता और अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक दिशा-निर्देशन और स्वामित्व से वंचित रहते हैं। अमेरिका दौरे के समय 17 अगस्त, 1951 को हूबर पुस्तकालय के एशियायी मामलों के विशेषज्ञों से बातचीत और स्टैन्फर्ड विश्वविद्यालय में छात्रेन्द्राध्यापकों की सभा में दिया गया उनका भाषण मार्क्स के प्रति उनको दृष्टिकोण, समाजवाद की उनकी अवधारणा और एशिया की सामाजिकआर्थिक परिस्थिति के संदर्भ में समाजवाद की उनकी परिकल्पना पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।⁶ विशेषज्ञों से बातचीत में लोहिया ने कहा कि समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन थोड़े से व्यक्तियों के लाभ के लिए न होकर पूरे समाज के लाभ के लिए होगा। इस परिभाषा की केन्द्रीयता को स्वीकार करते हुए इसकी अवधारणा में परिवर्तन करने और नई बातों को जोड़ने के लिए हम लोग पूरी तरह सक्षम हैं। समाजवाद जड़ और विकास की अंतिम अवस्था पर पहुंचा एक पूर्ण सिद्धांत नहीं है। इसका लगातार प्रस्फुटन और विकास हो रहा है। लोहिया ने उक्त अवसर पर जोर देकर कहा कि जब तक समाजवाद एक जीवंत सिद्धांत बना रहता है और इसकी व्याख्या लचकदार क्षमता से युक्त रहती है तो एक पल के लिए भी मैं इस बात की चिंता नहीं करता कि मेरी बात मार्क्स अथवा किसी अन्य की बात के साथ मेल खाती है या नहीं? इसके पूर्व 31 जुलाई, 1951 के ए.बी. सी. रेडियो के 275 स्टेशनों से किए गए ब्राडकास्ट में लोहिया कह चुके थे कि एशिया में जनसंख्या के अत्यधिक घनत्व और निम्न स्तरीय उत्पादन के उपादानों के बीच

केन्द्रीकरण और विशाल उत्पादन पर आधारित पूँजीवाद एशिया के लोगो को न तो यथेष्ट राजनीतिक स्वतंत्रता दे सकता है और न तो साम्यवाद पूरी तौर पर रोटी दे सकता है। एशिया की समाजवादी पार्टियाँ पूँजीवाद और साम्यवाद की परिधि से बाहर निकलकर एक ऐसे विकेन्द्रित समाज की रचना के लिए संघर्षरत हैं जिसमें समुदाय की, समुदाय द्वारा और समुदाय के लिए काम करने वाली सरकार संभव हो पाएगी।

17 अगस्त, 1951 को स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय में एशिया में क्रांति विषय पर बोलते हुए डॉ. लोहिया एशिया में राष्ट्रीय आजादी और साम्राज्यवाद विरोधी क्रांति की बात करते हुए, आजादी के बाद विचार एवं कार्यक्रम के स्तर पर होने वाली क्रांति की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार मानव इतिहास में सत्ता और समृद्धि का हेर फेर होता रहा है। एक महाद्वीप का ऊषाकाल दूसरे महाद्वीप में सूर्यास्त का सूचक है। भारत अथवा एशिया की क्रांति यदि सफल होती है और एशिया यदि फिर से सर्वोच्चता को प्राप्त करता है तो यूरोप और अमेरिका में गिरावट आ सकती है। लेकिन मुझे इससे खुशी नहीं होगी। इतिहास में कभी हम सबसे ऊपर रहे हैं लेकिन फिर हम सबसे ऊपर नहीं होना चाहते हैं। यदि हम ऐसी दुनियाँ बना सकें जिसमें उसके विभिन्न हिस्से तुलनात्मक ढंग से शक्ति में समान हों तब हम पूरी मानवता के लिए शांति और सहयोग के युग का आविर्भाव कर सकते हैं।

जैसा कि लोहिया ने कहा, “एशिया की क्रांति की मेरे लिए परख का पैमाना है कि वह यूरोप और अमेरिका जैसी परिस्थितियाँ अपने यहाँ पैदा करने की चेष्टा करता है। अथवा अपने लिए नए पथ का संधान करता है। एशिया में आज भी भूस्वामियों और उद्योगपतियों का नियंत्रण है। पूरे एशिया में आज संपत्ति के स्वामित्व के कानून में परिवर्तन हो रहा है। कृषि के क्षेत्र में एशिया में पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। यह जनता की भागीदारी और ग्रामीण पुनर्रचना के लिए उनके स्वयं-सेवक की भांति काम करने से ही संभव है। एशिया में व्यापक पैमाने पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है। इसके साथ ही आर्थिक विकेन्द्रीकरण की भी आवश्यकता है। जहाँ तक प्रविधि का प्रश्न है भारत अथवा एशिया अत्यंत विशाल मशीनों के भार को बहन नहीं कर सकते हैं। यहाँ पर विजली से चलने वाली छोटी मशीनें खर्च की दृष्टि से सुलभ, संचालन की दृष्टि से सरल और रोजगार की दृष्टि से अधिक उपयोगी होंगी। समाजवादी एशिया इसके लिए कटिबद्ध है कि उसके यहाँ हिंसा और हथियार पर आधारित क्रांति नहीं होगी। आने वाले दिनों में आप लोग एशिया में होने वाले विद्रोहों की शृंखला के विषय में सुन सकते हैं। यह मान कर कि व्यवस्थापिका द्वारा आयोजित सुधारों में यदि रूकावट पैदा कर दी जाती है तो संभव है कि हिंसा का रास्ता अपनाए बिना लोग शांतिमय ढंग से भूमि पर कब्जा कर लें। इसके लिए वे सब तरह की पीड़ा सहने और जेल जाने के लिए तैयार रहेंगे। यह शांतिपूर्ण प्रतिरोध का समाजवादी रास्ता है।”

“समाजवादी एशिया बलात लादी गयी अतीत की संधियों को अस्वीकार कर विजेता और विजित के बीच के विभेद को समाप्त कर, सभी राष्ट्रों के बीच पूर्ण समानता पर बल देगा। आज के संयुक्त राष्ट्र संघ की रचना एक तरह से अंतर्राष्ट्रीय जाति प्रणाली पर आधारित है। विषेधाधिकार से युक्त, हथियार और आर्थिक शक्ति की श्रेष्ठता वाले पाँच देश भारत की जाति-व्यवस्था के ब्राह्मणों की भांति है। इनकी तुलना में दूसरे देशों की स्थिति हीन है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की इस विषमता को समाप्त करने पर भारत और एशिया के समाजवादियों का खास जोर रहेगा। इसके साथ ही समाजवादी एशिया विश्व सरकार की अवधारणा को आसानी से स्वीकार करेगा।” एक विश्व सरकार और पूरे विश्व की एक संसद पर लोहिया हमेशा जोर देते रहे। लोहिया के इन विचारों को सुनने के बाद अनेक अमेरिकी विशेषज्ञों ने यह स्वीकार किया कि हिंसा, तानाशाही, केन्द्रीयकरण, एकदलीय शासन के जिस समाजवाद की हमारे यहाँ हमेशा चर्चा होती रही है उसके विपरित डॉ. लोहिया द्वारा प्रतिपादित समाजवाद की अवधारणा लोकतंत्र, विकेन्द्रीकरण, छोटी मशीन आधारित उत्पादन, अहिंसक प्रतिरोध, कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना, पूरे समाज के लाभ के लिए उत्पादन; सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समानता; संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थान पर समानता के सिद्धांत पर आधारित विश्व-संसद और विश्व सरकार की स्थापना के सिद्धांत पर आधारित है। अहिंसक प्रतिरोध और विकेन्द्रीकरण पर विशेष बल देने के कारण अनेक अमेरिकी बुद्धिजीवियों ने इसे गांधीवादी समाजवाद की भी संज्ञा दी।

5

अमेरिकी बुद्धिजीवियों के उपरोक्त विचार के संदर्भ में स्वाभाविक रूप से एक सवाल उठता है कि क्या डॉ. लोहिया गांधीवादी थे? डॉ. लोहिया किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर उसके विचारों को ‘वाद’ की संज्ञा देने के विरोधी थे। अतः उन्हें ‘मार्क्सवाद’ अथवा ‘गांधीवाद’ जैसी शब्दावली मान्य नहीं थी। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि मार्क्स और गांधी दोनों के विचारों में अनेक अमूल्य रत्न हैं। इसके साथ ही साथ वे हमेशा दुहराते रहे कि मैं न तो मार्क्स अथवा गांधी विरोधी हूँ न तो उनका अंध भक्त। आजादी की लड़ाई के दौरान लोहिया का मानना था कि गांधी जी के नेतृत्व में ही इस लड़ाई को सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है। सन 1940 के बाद लोहिया और गांधी जी में वैयक्तिक और राजनीतिक निकटता बढ़ती गई। सन 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की पहल करने के लिए गांधी जी को उत्प्रेरित करने में समाजवादियों विशेषकर डॉ. लोहिया की प्रमुख भूमिका थी। सन 1946 में गांधी जी डॉ. लोहिया को कांग्रेस का महासचिव बनाना चाहते थे। कलकत्ता, नोवाखाली और दिल्ली के दंगों के समय डॉ. लोहिया, गांधी जी के साथ शांति-स्थापना के कार्य में लगातार लगे रहे।

गांधी जी के अहिंसा, सत्याग्रह, विकेन्द्रीकरण और रचनात्मक कार्यक्रमों का लोहिया पर गहरा प्रभाव पड़ा था। लोहिया द्वारा प्रतिपादित समाजवादी कार्यक्रम में गांधी जी के इन सिद्धांतों का महत्वपूर्ण स्थान है। लोहिया, इन कार्यक्रमों को, गांधी जी की मृत्यु के बाद, एक सैद्धांतिक आधार प्रदान करते हैं और इन्हें गांधी जी के प्रयोगों से आगे निकाल ले जाने में वैचारिक रूप से सक्षम होते हैं। गांधी जी के संघर्ष की नैतिक रणनीति के 'उपवास' 'भूख हड़ताल' अंतिम लेकिन अत्यंत महत्वपूर्ण उपादान थे। डॉ. लोहिया इस तरह के निजी पीड़ा और उपवास के माध्यम से अपने विरोधी के हृदय परिवर्तन की पद्धति के विरोधी थे। गांधी जी द्वारा प्रयुक्त असहयोग आंदोलन (1920-21) और सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930-31) के व्यापक जन उभार का डॉ. लोहिया की राजनीतिक कार्यप्रणाली और चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। अन्याय, दमन, शोषण, सरकारी जुल्म के विरुद्ध वे अहिंसक जनप्रतिरोध और सविनय अवज्ञा के राजनीतिक उपकरणों के प्रबल पक्षधर थे। गांधी जी के ट्रस्टीशिप के सिद्धांत में उनका विश्वास नहीं था। उनका विश्वास था कि उत्पादन के संसाधनों पर निजी स्वामित्व नहीं होना चाहिए और उत्पादन का लाभ पूरे समाज को मिलना चाहिए। गांधी जी की सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना का केन्द्र गांव था। गांधी जी द्वारा प्रतिपादित विश्व सत्ता और अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण की मुख्य इकाई गांव है। गांधी जी का विश्वास नैतिक सत्ता कि श्रेष्ठता पर था अतः वे राज्य और सरकार दोनों को अपनी आदर्श अवस्था में आवश्यक नहीं मानते थे। मार्क्स का भी मानना था कि साम्यवाद की आदर्श अवस्था में राज्य समाप्त हो जाएगा। इसके विपरीत डॉ. लोहिया राज्य और सरकार दोनों को सामाजिक आर्थिक पुनर्निर्माण का महत्वपूर्ण उपादान मानते हैं। विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत की चर्चा करते हुए प्रायः डॉ. लोहिया द्वारा प्रतिपादित 'चतुस्तंभीय राज्य' के पाएँ ग्राम, जिला, राज्य और केन्द्र की चर्चा होती है। डॉ. लोहिया द्वारा प्रतिपादित सत्ता और अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण का सिद्धांत इन चार खंभों पर टिका था। लेकिन इसका एक पंचम स्तंभ विश्व सरकार और विश्व संसद के रूप में है। उसे भी हमें ध्यान में रखना है।

गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम के तकली और चर्खा प्रतीक थे। डॉ. लोहिया के प्रतीक जेल, बैलेट-वोट और फावड़ा थे। अपनी विचारधारा के प्रतीक के रूप में भारतीय समाजवादियों ने लाल झंडे के साथ हल और चक्र को चुना था। कांग्रेस के झण्डे में चर्खा था। सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए गांधी जी इकाई के रूप में ग्राम और उत्पादन पद्धति के रूप में ग्रामीण और गृह-उद्योगों पर जारे देते थे। हिन्द स्वराज (1909) में गांधी जी ने औद्योगीकरण, मशीनीकरण, पश्चिमी सभ्यता और विशाल आधुनिक प्रविधि का विरोध किया। डॉ. लोहिया पश्चिमी सभ्यता नहीं बल्कि उसके दो वैचारिक उत्पादों पूँजीवाद और साम्यवादके समान रूप से विरोधी थे। भारत और एशिया की परिस्थितियों में उन्होंने कृषि की पुनर्रचना, भूमि के पुनर्वितरण, बिजली से संचालित छोटी

मशीनों पर आधारित उद्योग, विशाल मशीनों और तज्जनित उत्पादन का विरोध और समुदाय नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था पर जोर दिया। भारत की आजादी के लिए अहिंसात्मक तरीके से तीन दशकों तक नेतृत्व प्रदान करते हुए भी गांधी जी का ध्यान रचनात्मक कार्यक्रम, बुनियादी शिक्षा, मातृभाषाओं के प्रचार-प्रसार, हिन्दी के प्रचार, ग्राम सुधार, लिपि के सवाल, हरिजनोद्धार, आदिम जातियों के संगठन और सुधार पर भी केन्द्रित था। डॉ. लोहिया ने भी आजादी और समाजवादी आंदोलन के साथ विदेश नीति, एशिया की एकता, शिक्षा और प्रशासन में भारतीय भाषाओं के गरिमापूर्ण स्थान, रामायण मेला, अंग्रेजी हटाओ, जातितोड़ो, पिछड़ों के लिए विशेष अवसर, सही इतिहास-लेखन, भारतीय विश्वविद्यालयों में शोध के सवाल, भारतीय लिपियों और जन की एकता जैसे सवालों पर गहन चिंतन किया, उनके लिए कार्यक्रम तैयार किया और नए आंदोलनों की नींव डाली। मात्र चार वर्षों में एक सांसद के रूप में उनका उत्कृष्ट योगदान हमारे लोकतंत्र और संसदीय इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है।

6

इस तरह मार्क्स और गांधी के विचारों की अमूल्य निधियों की बात स्वीकार करते हुए भी डॉ. लोहिया के सिद्धांत, दर्शन, कार्यक्रम और संघर्ष प्रणाली उन दोनों से काफी भिन्न है। लोहिया ने जिस तरह मार्क्स और गांधी के विचारों और कार्यक्रमों की सतत गतिशीलता पर जोर देते हुए उनमें समय और आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन की बात कही, वह बात डॉ. लोहिया के विचारों पर भी लागू होती है। समय, स्थान, आवश्यकता और तेजी से बदलती वैश्विक परिस्थिति में उनमें भी परिवर्तन और परिवर्द्धन की आवश्यकता अनुभव की जा सकती है; अन्यथा उनमें भी जड़ता आ जाएगी।

मार्क्स और लोहिया के आधारभूत वैचारिक विभेद के विवेचन के बाद एक सवाल उठता है कि मार्क्स के बाद के वैश्विक साम्यवाद और अपने देश में साम्यवादियों से लोहिया के किन बिन्दुओं पर मतभेद थे। हम पहले ही इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं कि जर्मन प्रवास के दिनों में डॉ. लोहिया मार्क्सवाद के अन्तर्विरोध, बोलशेविक क्रांति की विसंगतियों और रूस में स्टालिन द्वारा चलाई जा रही यंत्रणाओं से परिचित हो चुके थे। गत सदी के चौथे दशक में बड़े पैमाने पर पूरे रूस में स्टालिन विरोधियों के सफाए का जो दौर चला, उससे लोहिया का रूस की साम्यवादी व्यवस्था से मोह-भंग हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने के ठीक पहले स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत रूस ने हिटलर द्वारा शासित नाजी जर्मनी से जिस तरह समझौता किया वह अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद की मौकापरस्त कूटनीति का एक नमूना मात्र था। इस कांड के बाद अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद की कार्यप्रणाली और सोवियत रूस के मौकापरस्त कदम

से लोहिया की वैचारिक दूरी रूस और उसके साथ कदम मिला कर चलनेवाली दुनिया की कम्यूनिस्ट पार्टियों से बढ़ती गई।

भारत में अपने स्थापना काल (1924) से ही कम्यूनिस्ट पार्टी ने स्वाधीनता आंदोलन की मुख्य धारा और गांधी जी के नेतृत्व का दिल खोल कर विरोध किया। लोहिया भारत के स्वाधीनता आंदोलन में कांग्रेस की भूमिका और गांधी जी के नेतृत्व को स्वीकार करते थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने सन 1936 में कम्यूनिस्टों के साथ संयुक्त मोर्चा की नीति स्वीकार किया तो डॉ. लोहिया कम्यूनिस्टों की कार्य प्रणाली से परिचित होने के कारण उसके पक्ष में नहीं थे। अंत में, इस सवाल पर उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी से त्यागपत्र तक दे दिया था। सन 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन का भारतीय कम्यूनिस्टों ने न केवल खुल कर विरोध किया बल्कि हर तरह से ब्रिटिस सरकार की मदद की। सन 1943 में कम्यूनिष्ट पार्टी ने मुस्लिम लीग से सहयोग और पाकिस्तान के निर्माण के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया। भूमिगत रहकर क्रांति की मशाल जला कर रखनेवाले डॉ. लोहिया को कम्यूनिस्टों की इस नीति से धक्का लगा। इन दिनों कम्यूनिस्ट नेता अपने कार्यक्रमों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से लगातार गांधी जी, सुभाष बाबू, जयप्रकाश और लोहिया पर प्रहार कर रहे थे। भारत की स्वतंत्रता के लिए जापान से संधि कर, आजाद हिंद फौज की स्थापना कर नेता जी सुभाष बोस जिस समय अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहे थे, उस समय अंग्रेजी सरकार से सहयोग का रास्ता अपना कर कम्यूनिस्ट, नेता जी के विरुद्ध अपशब्दों का प्रयोग कर रहे थे।

एशिया के नव-स्वतंत्र राष्ट्रों भारत, बर्मा, इंडोनेशिया, मलाया, फिलीपीन्स में कम्यूनिस्टों ने भीतरघात और तोड़फोड़ का रास्ता सन 1948 के बाद अपनाया। लोहिया का कहना था कि एशिया में साम्यवाद विध्वंसकारी है। सोशलिस्ट पार्टी के पंचमढी (मई 1952), बेतूल (जून 1953) और इलाहाबाद (दिसंबर 1953) के सम्मेलनों में डॉ. लोहिया ने कांग्रेस और कम्यूनिस्टों के प्रति अपनी सैद्धांतिक और व्यावसायिक नीतियों का स्पष्टता के साथ निरूपण किया। इस अवधि में उन्होंने पूंजीवाद और साम्यवाद की समान अप्रासंगिकता, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इनसे और राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस और कम्यूनिस्टों से 'समान दूरी' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

डॉ. लोहिया जेल से रिहा होने (अप्रैल 1946) के बाद और गांधी जी की हत्या तक (30 जनवरी 1948) की अवधि में महात्मा गांधी के सर्वाधिक प्रिय नेताओं में से एक थे। गांधी जी के बाद उनकी विरासत के दो स्वयंभू दावेदार बन गए। पहली श्रेणी में केन्द्र और राज्यों की सरकार चलानेवाले कांग्रेसी नेता थे। लोहिया इन्हें 'सरकारी' गांधीवादी' कहते हैं। दूसरी श्रेणी में गांधी जी के वे अनुयायी थे जो उनके द्वारा संचालित विभिन्न संगठनों, आश्रमों और बाद में सरकारी, गैर सरकारी पैसों से

बननेवाले संस्थानों के पदाधिकारी थे। लोहिया इन्हें 'मठी गांधीवादी' कहते हैं। अपने जैसे लोगों को, जो न तो सरकारी पदों पर थे न तो संस्थाओं के पदाधिकारी थे, उन्हें लोहिया ने 'कुजात गांधीवादी' की संज्ञा दे रखी है। गांधी के पहले दो अनुयायियों से लोहिया के सैद्धांतिक और राजनीतिक मतभेद उनके जीवन भर रहे।

7

21वीं सदी के इस आरंभिक दशक में आज विश्व और भारत के सम्मुख वैश्वीकरण, गहराती आर्थिक मंदी, आतंकवाद जैसी गहरी चुनौतियाँ हैं। वीसवीं सदी के आरंभ से ही पूँजीवादी व्यवस्था मानवता के लिए प्रथम विश्व युद्ध (1914-18), विश्वव्यापी गिरावट और मंदी (1929-32), द्वितीय विश्व युद्ध (1939-45), शीत युद्ध (1946-90) जैसे संकट पैदा करती रही है। पूँजीवाद की चुनौती के रूप में रूस में बोलसेविक क्रांति (1917), इटली में फासिस्ट क्रांति (1922) हुई और जर्मनी में नाजी-पार्टी का शासन (1932) स्थापित हुआ। मुसोलिनी और हिटलर के नेतृत्व में जिस फासिस्ट विचारधारा का अभ्युदय हुआ वह द्वितीय विश्वयुद्ध में पराजित हो धराशायी हो गई। रूस और पूर्वी यूरोप में 1990 के बाद साम्यवादी व्यवस्था का पतन हो गया। उसके बाद लोगों ने कहना आरंभ किया कि समाजवादी व्यवस्था मृतप्राय हो चुकी है। लेकिन यूरोप के देशों में लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टियाँ आज भी बड़ी ताकत हैं। पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों ने अपना नाम बदल कर सोसलिस्ट पार्टी रख लिया है। चीन जैसा कम्युनिस्ट देश आज बाजार की अर्थ व्यवस्था का अनुगमन कर रहा है। 21 वीं सदी में पूँजीवाद का नया रूप बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, अंतर्राष्ट्रीय संगठनोंजैसे विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व आर्थिक फोरम, जी8, जी20 और भूमंडलीकरण की नई आर्थिक प्रक्रिया के माध्यम से चल रहा है। 1990 के दशक में तानाशाही, एकदलीय शासन, केन्द्रीयकरण पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था का पतन हुआ। सितंबर, 2008 के बाद से एक बार फिर बाजारवाद, भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद पर आधारित पूँजीवाद एक नए आर्थिक संकट के बीच से गुजर रहा है।

इस तरह के अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट, साम्यवाद और पूँजीवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्विरोधों के बीच लोहिया के विचार और लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था कहाँ तक प्रासंगिक है? डॉ. लोहिया ने 1950 के दशक में ही पूँजीवाद और साम्यवाद की समान अप्रासंगिकता और उनसे समान दूरी का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। आज दोनों व्यवस्थाएँ समान रूप से अप्रासंगिक सिद्ध हो रही हैं। लोहिया ने लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था, समाज के लाभ के लिए उत्पादन, सरकार और राज्य के अस्तित्व की अनिवार्यता पर बल दिया था। पूँजीवाद के इस वर्तमान संकट के समय राज्य के हस्तक्षेप पर फिर से बल दिया जा रहा है। आज का आर्थिक भूमंडलीकरण भी विभिन्न राष्ट्रों के बीच की असमानता को मुक्त बाजार, आयात-निर्यात की कार्यप्रणाली,

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के वर्चस्व और प्रविधि की असमान उपलब्धता के कारण बढ़ा रहा है। डॉ. लोहिया ने गत सदी के पचास के दशक में एशिया, अफ्रीका के विकास, एक वैश्विक व्यवस्था के रूप में समानता पर आधारित विश्व-सरकार और विश्व-संसद की परिकल्पना की थी।

आज पूरी दुनिया में पर्यावरण और नारी-मुक्ति आंदोलन की बड़ी चर्चा है। गत सदी के पचास के दशक में डॉ. लोहिया ने नदियों की सफाई और नर नारी समानता के लिए आंदोलन चलाया था। आज की दुनिया में लोकतांत्रिक समाजवाद, विश्व-सरकार, पंचस्तरीय राज्य, पर्यावरण का संरक्षण, विकेन्द्रीकरण; समुदाय का, समुदाय के द्वारा और समुदाय के लिए उत्पादन; दुनिया के पिछड़े देशों और महाद्वीपों का त्वरित विकास, न्याय, समानता, पारस्परिक सहयोग और बंधुत्व पर आधारित विश्व व्यवस्था के लिए आवश्यक है। शोषण, दमन से मुक्ति और क्रांतिकारी सामाजिक रूपांतरण का मार्क्सवादी वैचारिकी में सबसे महत्वपूर्ण उपकरण धनी और निर्धन श्रेणियों के बीच चलने वाला वर्ग संघर्ष है। मार्क्सवादी चिंतन में क्रांति हिंसाश्रित है। लोहिया ने अन्याय और शोषण के प्रतिरोध के लिए अहिंसात्मक सामूहिक सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा पर बल दिया। आज चाहे अश्वेत आंदोलन हो, चीन में छात्रों का आंदोलन हो, सुई ची के नेतृत्व में बर्मा में चलने वाला लोकतांत्रिक आंदोलन हो अथवा इराक में चलने वाली लड़ाई के विरोध में पूरी दुनिया में आयोजित प्रदर्शन हों, वे सभी सिविल नाफरमानी के रास्ते का अनुगमन कर रहे हैं।

एशिया, अफ्रीका के देशों में पूँजी और अत्यंत समुन्नत प्रविधि का अभाव है। कम पूँजी पर आधारित उत्पादन, व्यापक रोजगार, कम हुनर और प्रशिक्षण से भी मशीन चलाने की क्षमता के आधार पर लोहिया ने छोटी मशीन आधारित बिजली से संचालित उद्योग धंधों पर जोर दिया था। इसी तरह उनका छोटी सिंचाई योजनाओं, बिजली से चलने वाले पंपों पर जोर था। पश्चिमी पूँजीवाद देशों की तरह चीन और भारत ने भी विशाल उत्पादन वाली आयातित भारी प्रविधि के उपयोग का जो रास्ता अपनाया उसके कारण या तो उनकी प्रविधि पाँच-छः दसक पुरानी रही अथवा नई प्रविधि और पूँजी लिए उन्हें बहुराष्ट्रीय कंपनियों, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सामने समर्पण करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। विशाल पैमाने पर होने वाले औद्योगिकरण और नगरीकरण ने औद्योगिकरण के कचरे और जलवायु परिवर्तन की गंभीर चुनौती मानवता के सम्मुख उपस्थित कर दी है।

आज 21वीं सदी में लोहिया की विश्व सरकार की अवधारणा में भूमंडलीकरण की चुनौती, सामूहिक सिविल नाफरमानी में हिंसात्मक वर्ग संघर्ष, छोटी सिंचाई और बिजली परियोजना से बड़े बांधों के संकट और छोटी मशीन आश्रित बिजली से संचालित उत्पादन पद्धति में शोषण, औद्योगिक कचरे और जलवायु परिवर्तन के संकट से त्राण पाने का रास्ता है। इस अर्थ में लोहिया का समाजवादी-लोकतंत्र, सामुदायिकता,

समता और संपन्नता से युक्त होकर पूँजीवाद और साम्यवाद से अलग हट कर एक नया विकल्प प्रस्तुत करता है। लोहिया के शब्दों में ही समय और स्थान के अनुसार चिंतन, विचारधारा, दर्शन में परिवर्तनशीलता और गतिशीलता आवश्यक तत्व हैं। यह बात मार्क्स, गांधी और लोहिया पर भी समान रूप से लागू होती है।

सहायक पुस्तकें

1. इंदुमति केलकर 'राम मनोहर लोहिया' संक्षिप्तकरण एवं संपादन, श्रीपाद कृष्ण केलकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया नयी दिल्ली, 1996
2. मुख्तार अनीस और विजय कांत दीक्षित (संपादक) 'लोहिया: बहु आयामी व्यक्तित्व', लखनऊ, 1984। इसमें अनेक मुर्धन्य राज्यनेताओं, विचारकों के संकलित लेख, डॉ. लोहिया के व्यक्तित्व और विचारों को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। गिरीश मिश्र, ब्रज कुमार पाण्डेय लिखित 'राम मनोहर लोहिया एंड हिज इज्म' ईस्टर्न बुक्स, न्यू देहली, 1992 में लोहिया की विचारधारा, लोहिया और मार्क्सवाद, लोहिया और गैर कांग्रेस वाद पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।
3. एफ.एक्स. स्युटन के प्रपत्र 'द सोशल एंड इकोनॉमिक फिलासफी ऑफ वेर्नर जोबार्ट' जो एच. ई. वार्न्स (संपादक) ऐन इट्रोडक्शन टु द हिस्टरी ऑफ सोश्यालाजी', द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस शिकागो, लंदन, संक्षिप्त द्वितीय संस्करण, 1967, के अध्याय XIV के अन्तर्गत संकलित है, उसमें जोबार्ट के विचारों का विवेचन है।
4. सुब्रत मुखर्जी, सुशीला रामास्वामी लिखित 'ए हिस्टरी ऑफ सोशलिस्ट थाट', सेज पब्लिकेशंस, न्यू देहलीलंदन में डॉ. लोहिया के विषय में अत्यंत संक्षिप्त लेकिन मार्क्स, लासाल, वर्नस्टीन, कौत्स्की, कोल के योगदान पर सम्यक विचार किया गया है।
5. डॉ. राम मनोहर लोहियाकी पुस्तकों, फ्रैग्मेंट्स ऑफ ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता, 1951; व्हील ऑफ हिस्टरी, हैदराबाद, 1955; विल टु पावर, हैदराबाद, 1956; मार्क्स, गांधी एंड सोसलिज्म, हैदराबाद, 1963 से उनकी विश्व-दृष्टि, दर्शन, विचारधारा और अर्थनीति पर प्रकाश पड़ता है।
6. हैरिस वुफोर्ड, 'लोहिया एंड अमेरिका मीट', 1951-64 पेपर बैक संस्करण, बी.आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन, दिल्ली 2002 डॉ. लोहिया की 1951 की अमेरिकी यात्रा पर आधारित प्रथम संस्करण 1951 में छपा था। इसमें डॉ. लोहिया की दो अमेरिकी यात्राओं, विभिन्न संगठनों, विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में दिए गए उनके भाषणों के विवरण उपलब्ध हैं। हैरिस वुफोर्ड बाद में अमेरिकी सीनेट के सहस्य निर्वाचित हुए।
7. गांधी जी के विचारों का सम्यक निरूपण इनकी बीज पुस्तक 'हिंद स्वराज (1909)', अष्टम संस्करण, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, जून, 1990; लुई फिशर लिखित 'द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी, 1953, प्रथम संस्करण, भारतीय विद्या भवन, मुंबई, 1998 और 'एम. के. गांधी 'फ्रॉम यरवदा मंदिर' (1932), नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद, पुनर्मुद्रित संस्करण, 1980 में उपलब्ध है।

वर्तमान सभ्यता, महात्मा गाँधी और हिन्द-स्वराज

नरेश कुमार अम्बष्ट*

आज समस्त विश्व में तीन प्रकार की सत्ताएँ चल रही हैं : शस्त्र सत्ता, धन सत्ता और राज्य सत्ता। परन्तु स्थिति ऐसी हो गयी है कि इन तीनों सत्ताओं पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। आज सभी लोग किसी अन्य मानवीय शक्ति की खोज में हैं और वह मानवीय शक्ति गाँधी के दर्शन से ही विकसित हो सकती है।

धन की सत्ता आज सारे जगत में व्याप्त है। आज पैसे पर ईमान बिक रहा है, पैसे पर अस्मत् लुट रही है, पैसे पर न्याय अपने नाम को हँसा रहा है। विश्व का कौन-सा अनर्थ है, जो आज पैसे के बल पर और पैसे के लिए नहीं किया जाता? अन्याय और शोषण, हिंसा और भ्रष्टाचार, चोरी और डकैती सबकी जड़ में पैसा है।

राज्य सत्ता पुलिस और सेना के सहारे, शस्त्र सत्ता के सहारे जीती है, कानून की छत्रछाया में बढ़ती है, धन सत्ता के भरोसे पलती, पनपती है और विज्ञान के जरिये विकसित होती है। परन्तु इतने साधनों से सज्जित रहने पर भी वह शत-प्रतिशत जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है। अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक सुख का आदर्श मानवजाति का कल्याण नहीं कर सकता।

भारत के लोकतंत्र में तीन भयंकर दोष हैं—अधिकार का दुरुपयोग, गुण्डाशाही का भय और भ्रष्टाचार। इसके अलावा “सम्प्रदायवाद” और “जतिवाद” नामक दो दोष और भी हैं। देश और समाज के लिए इन सभी दोषों का उन्मूलन परम आवश्यक है।

अरनाल्ड टॉयनबी ने भारत को दुनिया की प्रयोगशाला बताया था। मैं इससे अक्षरशः सहमत हूँ कि भारत ही आज के विश्व आतंकवाद तथा उग्रवाद के निराकरण की प्रयोगशाला है जहाँ हम मानवीय सहजीवन का प्रयोग कर सकते हैं।

* डॉ. नरेश कुमार अम्बष्ट, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग। दूरभाष 98835317737

विगत 10 वर्षों में पाश्चात्य संस्कृति से भारत की आँखें चकाचौंध हो गयी हैं। विगत 20 वर्षों में भारत के नेता पूँजीवादी प्रवाह में बह गये हैं। परिणाम क्या

आया? गरीबी, बेकारी, विषमता, भ्रष्टाचार, व्यसन, दहेज, जाति-भेद खत्म होने के बजाय बढ़े हैं। पहले हम रूसी समाजवादी रास्ते पर चले। आज भारत पूंजीवादी अमरीकी रास्ते पर चल रहा है। अमेरीका आज व्यसन, हिंसा, मानसिक प्रदूषण, उपभोक्तावाद में फंसा है। लेकिन मेरा मानना है कि न रूसी समाजवादी माडेल ने हमारी समस्याओं का समाधान किया, न खुले बाजार की पूंजीवादी व्यवस्था कर पायेगी। गांधीजी के अलावा इस देश को किस नेता ने समझा? उनका मानना था कि समस्या जहाँ से उपजी है हल हमें वहीं खोजना है। गांधीजी मार्क्स से ज्यादा यथार्थवादी और व्यावहारिक थे। मार्क्स की तरह गांधीजी ने किताबों का लेखन नहीं किया बल्कि उन्होंने एक अहिंसा संग्राम खुद आधा शतक चलाया और जो कहा वैसा जीवन जिया।

आज तो भारत में करोड़ों लोग ऐसे होंगे जो गांधीजी के दर्शन तो दूर उनके विचारों से भी परिचित नहीं होंगे। 30 जनवरी, 1948 को गांधीजी को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गोली का निशाना बनना पड़ा था, और गोडूसे की गोली खाते ही वे “हे राम” कहकर हमें आशीर्वाद देकर सदैव के लिए विदा हो गये। नई संतति तस्वीरों के माध्यम से ही गांधीजी के दर्शन कर सकती है और उनकी आत्मकथा हिन्द-स्वराज तथा अन्य लेख पढ़कर उनके गुण, स्वभाव और चरित्र बल का अनुमान कर सकती है।

1909 में इंडियन ओपिनियन में प्रकाशित ‘हिन्द-स्वराज’ महात्मा का दिया हुआ एक दस्तावेज है जिसके सौ साल पुरने पर राजनीतिज्ञ, दर्शनशास्त्री तथा समाजशास्त्री चर्चा करेंगे लेकिन आने वाले समय में उसकी प्रासंगिकता भारत के लिए बन पायेगी या नहीं ठीक से कहा नहीं जा सकता है। परन्तु मेरा यह मानना है कि “हिन्द-स्वराज” आम भारतीयों को अवश्य पढ़ना चाहिए क्योंकि आम भारतीय एवं उनकी सभ्यतामूलक दृष्टि की जैसी सरल एवं सुबोध अभिव्यक्ति इस पुस्तक में हुई है, वह अद्भुत है। इस पुस्तक में आधुनिक सभ्यता का मूल्यांकन एवं चित्रांकन किया गया है जो पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के उत्थान एवं पतन को समझने की दृष्टि देगा। तालस्ताय और रस्किन की तरह गांधीजी भी औद्योगिक सभ्यता से वितृष्णा रखते थे। वे मानते थे कि आदर्श समाज वह है जिसमें हर व्यक्ति खेत पर या किसी शिल्प में हाथों से काम करे और नैतिक नियमों का पालन करते हुए जीवन गुजारे। अगर मनुष्य आधुनिक सभ्यता के इस लम्बे-चौड़े तमाशों के मोहजाल से खुद को मुक्त कर ले और किसी भी रूप में अपने साथी मनुष्यों का शोषण करना बंद कर दे तो व्यक्ति की अन्तरात्मा सीधे-सीधे नैतिक नियम को ग्रहण कर सकती है।

गांधीजी का मानना था कि “देश भक्ति से मेरा अभिप्राय पूरी जनता का कल्याण है और अगर मैं अंग्रेजों के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँ तो मैं उनके आगे

सिर झुकाऊंगा।” परन्तु गांधीजी इंग्लैण्ड के लोकतंत्र के खासा विरोधी थे। यह बात हिन्द-स्वराज के वक्तव्य से स्पष्ट होती है। उनका कथन है :

“इस समय इंग्लैण्ड की दुखद दशा है। मैं ईश्वर से विनती करता हूँ कि भारत की कभी यह दशा न हो। वह जिसे आप संसदों की जननी मानते हैं, वह एक बाँझ स्त्री और वेश्या के समान है। ये दोनों ही कड़े शब्द हैं, मगर इस मामले में सटीक ढंग से लागू होते हैं। संसद ने अपनी तरफ से अभी तक एक भी अच्छा काम नहीं किया है। इसीलिए मैंने इसकी तुलना एक बाँझ स्त्री से की है। उस संसद का स्वभाव ही ऐसा है कि वह बाहरी दबावों के बिना कुछ भी नहीं कर सकती। वह इसलिए वेश्या के समान है कि वह मंत्रियों के नियंत्रण में होती है जो समय-समय पर बदलते रहते हैं।”

भारत का लोकतंत्र इंग्लैण्ड से उधार लिया गया है। इसके संविधान को बड़े-बड़े कानूनविदों ने बनाया है। लेकिन 60 वर्षों के अनुभव काफी कड़वे हैं। लोकतंत्र के नाम पर जिस तरह की राजनीति यहाँ विकसित हुई है वह सबसे पहले राजनीतिक दलों को खा गयी। समाज और प्रशासन विकृत हो चुका है। संयुक्त बिहार (बिहार और झारखण्ड) में ही दुनिया का सबसे पहला गणराज्य विकसित हुआ था। वही बिहार/झारखण्ड सांसदीय प्रणाली के कारण अपनी दिशा, दशा भूलकर बदहाली के कगार पर खड़ा है तथा एक लोकनायक जयप्रकाश एवं मसीहा गांधीजी का इंतजार कर रहा है।

भगवान बुद्ध ने जिस लोकतंत्र को अपने भिक्षुओं एवं संघों में लागू किया था उसका स्वरूप आज के लोकतंत्र से भिन्न था। उसका सूत्र था मिलो, संवाद करो और उस समय तक संवाद करो जब तक सम्मति न बन जाए। इस सूत्र का मुख्य लक्ष्य संवाद और सहमति पर था, न कि विवाद और विरोध पर। हमने बुद्ध के लोकतांत्रिक पद्धति नहीं अपनायी। हमारा समाज कभी राजधानी से नहीं चलता था। गाँव की पंचायत सभा भविष्य की योजना तय करती थी। गांधीजी चाहते थे कि हर गाँव एक समुदाय की तरह रहे। अपने खेतों में जरूरी कच्चा माल तैयार करे जिनसे जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हों। उत्पादक का पेट काटकर बाजार का पेट भरने की कोशिश न की जाए। जो हमारी जरूरत से बच जाए वही बाजार में जाए। यह सर्वविदित है कि गांधीजी आधुनिक प्रजातंत्र और पारम्परिक पंचायती व्यवस्था तथा शक्ति के वास्तविक विकेन्द्रीकरण के हिमायती थे। वे बहुमत के आधार पर निर्णय करके बहुमत के लाभ की बात की जगह सर्वोदय और अंत्योदय के समर्थक थे। इसलिए वे मानते थे कि पंचायतों को स्थानीय जीवन की संपूर्ण जिम्मेदारी देनी चाहिए। कुछ दिनों तक गड़बड़ी हो सकती है परन्तु धीरे-धीरे लोकतांत्रिक उर्जा विकसित होगी।

गांधीजी का मानना था कि आधुनिक सभ्यता एक रोग है। वह शारीरिक सुख को ही पुरुषार्थ तथा सार्थक मानती है। इस सभ्यता में सारी सुख-सुविधाएँ एक बटन दवाकर मशीन तथा अत्याधुनिक तकनीक की मदद से प्राप्त की जा सकेंगी। हर काम मशीन से किया जाएगा। अब पहले की तरह हाथ-पैर या शरीर के अन्य अंगों की आवश्यकता न के बराबर हो जाएगी। पहले लोगों को मार-पीटकर गुलाम बनाया जाता था। आज लोगों को पैसे का और भोग का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है। आज की सभ्यता में नीति और धर्म की बात ही नहीं है। Forward Farming के नाम पर किसानों को गुलाम बनाया जा रहा है। गांधीजी के शब्दों में यह सभ्यता तो अधर्म है और यह आज के भारत में इतने हद तक फैल गयी है कि धनार्जन की एक पागलनुमा दौड़ चल रही है।

आज भारत दो वर्गों में बंटा हुआ है। भारत के 30 करोड़ लोग आर्थिक विकास के सारे श्रोतों को अपने सुख-सुविधा एवं उपभोग के लिए उपयोग में लाते हैं तो दूसरी तरह करीब 72 करोड़ भारतीय गंवार, जाहिल एवं असभ्य माने जाते हैं। ये लोग भारत के ऊपर एक बोझ हैं। वे 30 करोड़ अभिजात्य भारतीय अपने संस्कार और संस्कृति को अपनी शक्ति का स्रोत नहीं मानते हैं, वे अपनी अलग पहचान मानते हैं। यह एक दुखद स्थिति है। वे जनता के द्वारा प्रदत्त धन का दुरुपयोग किसी भी प्रकार कर सकते हैं तथा उन्हें यहाँ का कानून कुछ भी नहीं कर सकता। सत्यम जैसी कम्पनी तथा अनगिनत नन-बैंकिंग कम्पनियाँ इसका सबसे अच्छा उदाहरण हैं। गत वर्ष संसद में किसानों की सहायता के लिए एक पैकेज दिया गया तो अभिजात्य के प्रतिनिधि लोगों ने कहा कि यह पैसा कहाँ से आएगा। जबकि प्रतिवर्ष 50 हजार करोड़ से अधिक धन Bad Loan कहकर भारतीय बैंक समूह कॉरपोरेट सेक्टर को माफ कर देता है और उस पर संसद में चर्चा करना भी मुनासिब नहीं समझा जाता। यह कैसा लोकतंत्र है?

ऐसी परिस्थिति में महात्मा गांधी के “हिन्द-स्वराज” का पाठ बहुत प्रासंगिक हो गया है। करीब 100 वर्ष पहले सामान्य अंग्रेज और अन्य यूरोपीय लोग भी भारत को जिस हिंकारत से देखते थे, अब कुछ भारतीय लोगों ने भी इसे उसी उपनिवेशवादी दृष्टि से देखना शुरू कर दिया है। परन्तु यह आवश्यक है कि इस मानसिक विषमता एवं खाई को दूर किया जाए। हमें गांधीजी की बताई हुई नई दृष्टि एवं नई संस्था को अपनाने की आवश्यकता है। हम भारतीयों को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए तथा उसकी बातों को आत्मसात करना चाहिए।

कला का सत्य*

यशदेव शल्य**

कला को सामान्य रूप से रस या सौन्दर्य से जोड़ा जाता है और सत्य को प्रायः निर्मम, प्रिय-अप्रिय से निरपेक्ष वास्तविकता से, अथवा कहे वस्तु-तंत्र ज्ञान से। निर्मल जी के ही 'कला में सत्य की अवधारणा' शीर्षक व्याख्यानों में अनेक उद्धरणों के बीच टालस्टाय और नीत्शे के मत उद्धृत हैं जिनमें कला और सत्य को इसी विरोध में देखा गया है। टालस्टाय के अनुसार "सौन्दर्य के नाम पर कला जो रचती है वह सत्य के उस जटिल-विषम रूप को विकृत करता है जिसे हम अपने वास्तविक जीवन में जीते या भोगते हैं", और नीत्शे कहते हैं, "मनुष्य कला का सहारा सत्य की मार से बचने के लिए लेता है।" (पृ. 23) इसी पृष्ठ पर इन उद्धरणों से पहले निर्मल जी ने कीट्स को उद्धृत किया है जिसमें सत्य और सौन्दर्य को एक ही कहा गया है। यहाँ स्पष्ट है कि कीट्स और टालस्टाय एवं नीत्शे 'सत्य' शब्द का प्रयोग नितान्त भिन्न अर्थों में कर रहे हैं, किन्तु निर्मल जी ने इस अर्थ-भेद की ओर ध्यान नहीं दिया है बल्कि इसे युग-परिस्थितियों से बदली मानसिकता ही कहा है, मानो सत्य कोई मनोवृत्ति हो। जो भी हो, ये तीनों उद्धरण अपने अभिप्रायों में स्थूल रूप से स्पष्ट हैं, किन्तु इन व्याख्यानों में दूसरे भी बहुत से उद्धरण हैं, और सभी पाश्चात्य कलाकारों के ही, जिनके अभिप्रायों का कुछ पता नहीं चलता, कम से कम सत्य से उनके सम्बन्ध का। यों 'सत्य' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता भी है, और वे सभी युक्त प्रयोग कहे जा सकते हैं, यदि उनका प्रयोग करने वाले अपने प्रयोगों को स्पष्ट परिभाषित कर दें। इन प्रयोगों में से कुछ का उल्लेख हमने अपने 'सत्य' शीर्षक लेख के आरंभ में किया है।¹ सामान्य रूप से किसी कथन, धारणा या विश्वास को सत्य कहा जाता है यदि वह तद्विषयक वस्तु के अनुरूप हो, वस्तुओं को सत्य कहा जाता है यदि वे अपने स्वरूप के अनुरूप हों। जागृति में देखी गई वस्तुओं को इसी अर्थ में हम सत्य और स्वप्न में

*3 अप्रैल, 2008 को त्रिवेणी कला संगम सभागार में दिया गया तृतीय निर्मल-स्मृति व्याख्यान।

**पी-51, मधुबन पश्चिम, किसानमार्ग, जयपुर-302015

1. उन्मीलन।

देखी गई वस्तुओं को असत्य कहते हैं, कागज के फूलों को वास्तविक फूल समझ सकते हैं। तब कहा जा सकता है कि कला-कृति का स्वरूप सौन्दर्य है और अपने इस स्वरूप की पूर्णता में उसका सत्य, न्यूनता में सत्य की न्यूनता और अभाव में असत्य होता है। तब यदि टाल्ल्टाय और नीत्शे कला को सुन्दर और इसी से सत्य का आवरक कहते हैं तब उनसे कहा जा सकता है कि आप यह नहीं देख रहे हैं कि कला दूसरी तरह की वस्तु है और धोखाधड़ी, लोभ, कामुकता, युद्ध और राजनीति आदि का जीवन दूसरी तरह की वस्तु है। जीवन के ये दोनों ही पक्ष हैं, आप केवल दूसरे पक्ष को ही सत्य का पक्ष देख रहे हैं।

इस तरह देखने पर हम पाते हैं कि टाल्ल्टाय और नीत्शे 'सत्य' शब्द का प्रयोग किसी दूसरे और ग़लत अर्थ में कर रहे हैं। थोड़ा ध्यान से देखें तो युद्ध, धोखाधड़ी और लोभ-मोह आदि मानवीय असत्य के उदाहरण हैं उसके वैसा नहीं होने के जैसा उसे होना चाहिए : कागज़ के फूलों की तरह।

इस तरह, कला का स्वरूप यदि सौन्दर्य है तो वह रचना, वह कृति कलात्मक होगी जो सुन्दर है और यही उसका सत्य होना होगा। इसलिए यदि कला के लिए यह कहना है कि उसका साध्य सौन्दर्य नहीं बल्कि सत्य है तो इसका अर्थ या तो यह होगा कि सौन्दर्य की साधना और सत्य की साधना ये दो अलग बातें हैं और कला सौन्दर्य की साधना नहीं है, या यह कि सौन्दर्य की साधना भी सत्य की साधना हो सकती है किन्तु कला का साध्य सौन्दर्य नहीं है बल्कि किसी और अर्थ में सत्य है। हमने अन्यत्र यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि कला का साध्य सौन्दर्य नहीं होकर किसी और अर्थ में सत्य है। यों सौन्दर्य को सत्य के आवरक के रूप में भी देखा गया है और कला को सौन्दर्य की पर्याय मान कर उसे भी इस रूप में देखा गया है। वेद का मंत्र हैः हिरेण्मयेन पात्रेण, सत्यस्यापिहितं मुखम्। इसमें सौन्दर्य को सत्य के आवरक के रूप में देखा गया है। किन्तु यह शब्दों के शिथिल प्रयोग के कारण है। इसलिए कला के सत्य के साथ सम्बन्ध को समझने के लिए कला के स्वरूप को समझना और सत्य के अर्थ और स्वरूप को समझना आवश्यक है। किन्तु यहां हम कला के स्वरूप पर अपेक्षित विस्तार से विचार नहीं कर पायेंगे। अन्यत्र हमने वह विचार पर्याप्त विस्तार से किया है और यहां उसके लिए अवकाश नहीं है। यहां हम कुछ कलाकृतियों को सम्मुख रखकर देखने के मार्ग से आगे बढ़ेंगे कि उनमें कलाकार का साध्य क्या है और उसमें उसकी सफलता-असफलता का मानदंड क्या है? इसके लिए हम निर्मल जी की मुंशी प्रेमचन्द और चित्रकार रामकुमार पर दो टिप्पणियों से आरंभ करेंगे जो उनके 'सर्जना पथ के सहयात्री' लेख-संग्रह से हम ले रहे हैं। प्रेमचंद के सम्बन्ध में वे कहते हैं "प्रेमचंद ने भारतीय किसानों की 'ऐतिहासिक विकृति' को देखा था किन्तु उस चीज का मूल सांस्कृतिक टेक्स्चर अपने गैर ऐतिहासिक रूप में क्या था जो विकृत हुआ था, उसकी अन्तर्दृष्टि प्रेमचन्द में नहीं मिलती।" (पृ. 17) और रामकुमार के

चित्रों के सम्बन्ध में वे कहते हैं“रामकुमार उन इने-गिने भारतीय कलाकारों में से हैं (शायद एकमात्र) जिनके पिछले पचास बरस के चित्र ‘मनुष्य की स्थिति’, उसकी वेदना और एकाकीपन, मुक्ति की उसकी कामना और संसार जैसा है उसी रूप में उसकी स्वीकृति के, साक्षी हैं।” (पृ. 178) अब, इन दोनों टिप्पणियों में निर्मल जी का उद्देश्य यद्यपि कलागत सत्य का विवेचन करना नहीं है, इनमें वे एक उपन्यासकार और एक चित्रकार की अपने-अपने कृतित्व में सफलता का मूल्यांकन ही कर रहे हैं, किन्तु इन टिप्पणियों में उनके जाने या अनजाने इन मूल्यांकनों का आधार उनकी कृतियों के सत्य होने में सफलता-असफलता से ही हुआ है। यह सत्य उन कृतियों के अपने से बाहरी वस्तुस्थिति को प्रस्तुत कर पाने में सफलता में है। अब इसके विपरीत ‘कला में सत्य की अवधारणा’ व्याख्यानों में देखें। वहां वे कहते हैं“दूसरी ओर, कला का सत्य उस रूपाकार में अवस्थित होता है जिस रूपाकार में वह अपने को प्रस्तुत करता है। हम किसी कविता के अर्थ का दूसरे शब्दों में उसकी प्रस्तुति से कुछ अनुमान कर सकते हैं, किन्तु वह उसके अर्थ की प्रेत-छाया ही हो सकती है, जिसका सत्य हमारे हाथों से खिसक गया रहता है।” इसी प्रकार, चित्र के सम्बन्ध में वे एक रिनेसाँ चित्रकार का मत उद्धृत करते हैं, जिसमें वह एक चित्र की रचना में चित्रकार के अर्थ या लक्ष्य का निरूपण करते हुए कहता है“मेरे मित्र, (लड़ते सैनिकों का चित्र) सैनिकों के एक-दूसरे की हत्या करते होने के बारे में नहीं है, यद्यपि वह उसके बारे में भी है, (वास्तव में तो) वह प्रकाश और छाया के बारे में और उनसे उभरती आकृतियों के बारे में है।” अब, इन दोनों उद्धरणों में कला-कृति के सत्य को कला-कृति के रचनागत गुण के रूप में रखा गया है, शब्द-रचनाओं या वर्ण-रचनाओं से बाहर उनका कोई कथ्य नहीं स्वीकारा गया है और परिणामतः उनका सत्यासत्य भी। किन्तु इसका क्या अर्थ है? एक कविता को उसके शब्दों की ध्वनि और शब्दानुक्रम-पर्यन्त ही देखना चाहिए या कि शब्दों के वाच्य अर्थ और उस अर्थ की वाच्य भाव-स्थिति या वस्तुस्थिति की अभिव्यक्ति में देखना चाहिए? क्या कई बार ऐसा नहीं होता कि एक कविता अन्य भाषा में अनुवाद में अधिक सफल दिखायी देती है क्योंकि अनुवादक उसके वाच्य अर्थ या वस्तुस्थिति का अधिक गहराई से साक्षात्कार कर पाया होता है और उसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द देख पाया होता है? इसी प्रकार, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई दूसरा चित्रकार उसी चित्रांकित भाव-स्थिति या वस्तुस्थिति को भिन्न चित्रांकन में अधिक सफलता से दिखा सके? क्या ऐसा नहीं होता कि हम किसी व्यक्ति की, जैसे बुद्ध की, एक मूर्ति को दूसरी से अधिक श्रेष्ठ कहते हैं और उस मूल्यांकन का आधार बुद्धत्व की व्यंजना में अधिक सम्यक्ता, अधिक गहराई होता है? यह बात कथा-काव्य में तो और भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जैसाकि निर्मल जी के मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों पर टिप्पणी में देखा जा सकता है, जहाँ वे मुंशी प्रेमचन्द के भारतीय किसान के चित्रण की तुलना टालस्टाय के रूसी किसान के चित्रण से

करते हैं और दूसरे को श्रेष्ठतर कहते हैं। किन्तु उपन्यास या कविता के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से बात करते हुए निर्मलजी, जैसाकि आधुनिक यूरोप के बहुत से लेखक भी, यही कहते हैं कि ये शब्द-पर्यन्त कृति ही होते हैं। अवश्य कभी-कभी बात का बात कहने के ढंग से बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है, किन्तु कहने का ढंग शब्दों का ही गुण नहीं होता, बल्कि कही गई बात का भी गुण होता है, जैसे मुस्कान होठों और आँखों की भंगी ही नहीं होती बल्कि भाव-दशा होती है जो उस भंगी को अपना माध्यम बनाती है। इसी से मुस्कान के अनेक रूप और अर्थ होते हैं। मुस्कराने वाले का जैसा भाव होता है, वैसी ही होठों और आँखों की भंगी होती है। इस प्रकार यह कहना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता कि कलाकृति अपनी रूप-रचना-पर्यन्त ही होती है, उसका अपने से अन्य कुछ व्यंग्य नहीं होता। किन्तु यदि निर्मलजी की प्रेमचंद की आलोचना और उनकी टालस्टाय से तुलना में न्यूनता के निहितार्थ की ओर आगे ध्यान दें तो इससे केवल यही आपादित नहीं होता कि कलाकृति का सत्य उसकी व्यंग्य वस्तुस्थिति होती है बल्कि एक ओर यह भी होता है कि उसकी व्यंग्यकता कितनी कुशल है और दूसरी ओर उसका व्यंग्य लक्षित वस्तुस्थिति के स्वरूप का कितना सम्यक् आकलन कर पाया है। निर्मल जी के अनुसार प्रेमचंद की औपन्यासिक कृति सत्य है किन्तु पर्याप्त सत्य नहीं है, उसकी यह अपर्याप्तता वस्तुस्थिति की गहराई और विस्तार को नाप पाने की असमर्थता में है। किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि वस्तुस्थिति की गहराई और विस्तार का कितना नाप होता है? इसका उत्तर होगा कि उसका कोई नाप नहीं होता, नाप केवल हमारी देख पाने की सामर्थ्य का होता है। इसी सामर्थ्य से एक कलाकार दूसरे से छोटा या बड़ा होता है।

किन्तु वस्तुस्थिति की यह अपरिमेयता वस्तुस्थिति के स्वरूप को रहस्यमय बना देती है। यह वस्तुस्थिति कैसी होती है? प्रेमचंद के **गोदान** उपन्यास की व्यंग्य, या कहें उसके द्वारा लक्षित वस्तुस्थिति तत्कालीन 'भारतीय किसान' है। किन्तु यह 'भारतीय किसान' कौन है और कैसे देखा जा सकता है? स्पष्ट है कि वह कोई व्यक्ति विशेष या व्यक्ति-समुदाय विशेष नहीं है, जो किसी विशेष स्थान और काल में रहता है, वह एक लगभग अनादि मानस-परंपरा है और कुछ विशिष्ट लक्षणों से अपनी पहचान देती है, किन्तु जिसकी न गहराई की कोई थाह है और न विस्तार का कोई छोर। वह अन्तश्चक्षु द्वारा उतनी ही साक्षात्कार्य होती है जितनी चक्षु की देख पाने की सामर्थ्य होती है। रामकुमार द्वारा देखी गई वस्तुस्थिति का उनका निरूपण इसका और भी स्पष्ट द्योतक है 'मनुष्य की स्थिति, उसकी वेदना, एकाकीपन और मुक्ति की कामना', 'संसार जैसा है वैसा।' इनमें से एक भी 'चीज़' प्रत्यक्षगम्य नहीं है, केवल कल्पना-गम्य है, और वह एक-साथ बाह्य और आन्तर है। इसे दो दिशाओं से देखा जा सकता है विषयता के पक्ष से बाहर खड़े होकर, और विषयिता के पक्ष से, उसके साथ तदात्म होकर। समाजशास्त्री उसे प्रथम पक्ष से देखता है और कवि, उपन्यासकार,

चित्रकार दूसरे पक्ष से। किन्तु द्रष्टव्य है कि कलाकार द्वारा व्यंग्य वस्तुस्थिति अनिवार्यतः समाज, प्रकृति या कोई दृश्य ही नहीं होती, वह उपन्यासकार, कवि या चित्रकार की अपनी मनोदशा भी हो सकती है, जैसे निर्मल जी के **अंतिम अरण्य** की। वस्तुस्थिति जैसी भी हो, कलाकार के लिए वह विषयिता के पक्ष से ही व्यंग्य होती है, विषयता के पक्ष से नहीं। इसका क्या अर्थ है, इसे स्थूल रूप से इतिहासकार या समाजशास्त्री और उपन्यासकार के निरूपण-भेद या दृष्टि-भेद को देखकर समझा जा सकता है।

इतिहास में व्यक्ति और घटनाएं विषय रूप में प्रस्तुत होती हैं अकबर, जयचंद, औरंगजेब और शिवाजी और उनके कार्य, भावनाएं और विचार ये सब विषय रूप में वर्ण्य होते हैं। हम कहते हैं 'इन्होंने क्या किया' अकबर ने जयचंद को बुलाया, अकबर को क्रोध आया, अकबर ने ऐसा सोचा आदि। इसके विपरीत उपन्यास में अकबर जयचंद को बुलाता है, अकबर क्रुद्ध होता है, अकबर सोचता है। इसी से ऐतिहासिक उपन्यास के पात्र भी ऐतिहासिक और वास्तविक नहीं होते, उनमें उपन्यासकार कल्पना द्वारा अन्तःप्रविष्ट होता है। किन्तु वह कल्पना कपोल कल्पना नहीं होकर प्रातिभ साक्षात्कारात्मक कल्पना होती है, उसका निरूप्य ऐतिहासिक चेतना, या कहें चित्त-भूमि होती है जो चित्त औपन्यासिक पात्रों के माध्यम से उसी प्रकार अभिव्यक्ति-लाभ करता है जैसे सांख्यीय महत् अहंकार, अन्तःकरण, इन्द्रिय और पंचमहाभूतों के माध्यम से अभिव्यक्ति-लाभ करता है।

ऐसा हम आत्मालोचन में भी कर सकते हैं 'मैं दुःखी हूँ', 'मुझको दुःखी नहीं होना चाहिए', ये कथन मेरी अपने प्रति विषय-वृत्तिकता के वाचक हैं। अपने प्रति विषयवृत्तिकता आत्मचेतना का स्वरूप ही है। इसका आरंभ हमारे स्वयं के विषयकरण से होता है। इसमें जब हम दुःखी होते हैं तब साथ ही अपनी दुःखिता के दर्शक भी होते हैं, हम अस्मि रूप से होते भी हैं और अपनी इस अस्मिता से अलग खड़े हुए इसके दर्शक भी होते हैं। हम जिसे आत्मा कहते हैं उसका आविर्भाव भी हमारी चेतना की इस आत्म-प्रेक्षकता से, अपने से अपने अलग खड़े होने से होता है। पशु में यह आत्म-बोध नहीं होता, वह केवल होता है विषयी, अपने होने का प्रेक्षक नहीं होता। किन्तु आत्मचेतन चेतना में वह प्रेक्षक (विषयी) और अपना प्रेक्ष्य (विषय) भी होता है। यहां शंकराचार्य की सहायता लेना उपयोगी होगा। ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरंभ में वे कहते हैं "यह आत्मा केवल अविषय रूप ही नहीं है, यह आत्मप्रत्यय-गोचर भी होता है।" किन्तु अपने को विषय रूप में देख पाने वाली यह चेतना कला में एक अद्भुत कार्य करती है, वह प्रत्यय के माध्यम से अपने से इतर हुए बिना अपनी विषयिता को भी प्रत्ययात्मतया विमृश्य बनाती है। यहां द्रष्टव्य है कि हम दूसरे व्यक्ति को भी विषयतया और विषयितया दोनों प्रकार से देखते हैं मैं वाजपेयी जी को सामने बैठा भी देख रहा हूँ और यह भी देख रहा हूँ कि वे मुझे देख रहे हैं। इस दूसरे देखने में

वाजपेयी जी मेरे लिए विषयी हैं जिनका मैं विषय हूँ। इस विषयिता में भी हम प्रत्यय-ग्राही चेतना के द्वारा प्रतिष्ठित हो सकते हैं। कहानी लेखक यही करता है उसके पात्र उसे अपनी विषयिता में ही प्रत्ययात्मतया प्रस्तुत होते हैं, तभी वह राम, लक्ष्मण, कैकेयी और मंथरा को निरूपित कर पाता है। इसमें वह उनके चित्त में उस चित्त के अर्थोन्मीलन के साथ घटित होता है। उसमें वह दशरथ की दारुण व्यथा को देखता नहीं, उसमें दाशरथतया व्यथित होता है। किन्तु वह व्यथित होना उस होने में अर्थोन्मीलनपूर्वक होता है, वह दाशरथीभाव मात्र नहीं होता, वह अंतःप्रकाशित दाशरथीभाव होता है। यहां स्पष्टीकरण के लिए अभिनवगुप्त की रस की व्याख्या को उद्धृत करना स्थाने होगा। उनके अनुसार “रति, भय आदि भावों का लौकिक तादात्म्य से विच्छिन्न : मेरे तेरे या उसके भावों के रूप में ग्राह्य नहीं होकर निर्विघ्न प्रतीति-ग्राह्य होना रस है।” यहां यह द्रष्टव्य है कि निर्विघ्न प्रतीति-ग्राह्य भाव नहीं होता, उसका प्रत्यय होता है जिसकी अवधारणा अभिनव गुप्त को उपलब्ध नहीं है। हम कहते हैं “प्रेम तो वह है जो सोहनी महीवाल से करती थी, ये लड़के-लड़कियाँ क्या प्रेम करेंगे!” कबीर प्रेम को परिभाषित करते हैं प्रेम पियाला सो पियै, सीस दच्छिना देय, लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेम का लेय।” यह भाव का ‘मेरे, तेरे उसके भाव के रूप में ग्रहण नहीं है, उस प्रत्यय के रूप में ग्रहण है जो विषय रूप में गोचर है। यह विषय रूप में भी प्रत्यय-गोचर हो सकता है जिसे हम विषयिता का अर्थतः उन्मीलित होना कहते हैं। यह अभिनव ने, या किसी अन्य काव्यशास्त्री ने, नहीं देखा। असंख्य कविताओं, उपन्यासों और चित्रों में वही उन्मीलित होता है।

यहां विषयिता की विषयि-प्रत्ययरूपता का कला-विषयक कुछ और उदाहरणों से स्पष्टीकरण स्थाने होगा एक चित्रकार विकास भट्टाचार्य को एक मृत बच्चे के माता-पिता ने अपने उस बच्चे का चित्र बनाने का अनुरोध किया जो उनके उस बच्चे को उनके सामने जीवितवत् प्रस्तुत कर दे। इस पर भट्टाचार्य लिखते हैं “मैं यह चित्र अभी तक बनाना आरंभ नहीं कर पाया हूँ। मैंने इसके लिए सही बिम्ब का साक्षात्कार पाने के लिए कितनी ही रातों की नींद खोई है। इसमें केवल एक चित्र की रचना करना ही अपेक्षित नहीं है, इसमें ऐसी आकृति की रचना करना अपेक्षित है जो एक ओर नितान्त मर्मन्तक दुःख में जन्म ले रही हो और दूसरी ओर जो दो अश्रु-प्लावित हृदयों को उनके संपूर्ण जीवन में संबल दे सके।” (आविश चक्रवर्ती, ‘दि क्रियेटर’, दि हिन्दोस्तान टाइम्स, 10.2.1992) यहां द्रष्टव्य है कि दुःखिता एक मृत बच्चे के माता-पिता की है, यह लौकिक तादात्म्य से रहित दुःखिता नहीं है, चित्रकार कल्पना द्वारा उस दुःख (विषयिता) के अर्थ का साक्षात्कार चित्रांकन-योग्य बिम्ब के प्रतीक में करना चाहता है। यही बात हम मुमताज के विरह में व्यथित शाहजहां के लिए ताहमहल बनाने वाले वास्तुकार में देखते हैं और यही इन्दुमती के विरह में रोदन करते अज के विलाप को काव्य-रूप देने वाले कालिदास में देखते हैं। इन तीनों उदाहरणों

में दुःख लौकिक तादात्म्य से रहित नहीं है चित्रकार, वास्तुकार और कवि व्यक्ति सम्बद्ध दुःख के ही साक्षात्कारी हैं, किन्तु तब भी यह निर्विघ्न प्रतीति ही है, क्योंकि यह प्रतीति प्रत्यय-ग्राही चेतना में उन्मीलित दुःखिता की है जो दुःखिता व्यक्ति विशेषों की ही हो सकती है, व्यक्ति सामान्य (व्यक्ति-साधारण) की नहीं हो सकती। इस प्रकार यह अर्थ एक ओर अनन्य साधारण होता है और दूसरी ओर संप्रेष्य भी प्रत्यय-ग्राही चेतना में उन्मीलित होने से। यों भोगात्मक अर्थ : भोगी जा रही दुःखिता : भी संप्रेष्य होता है : आवेगात्मक संप्रेषण जीव मात्र में दृष्टिगत होता है : किन्तु वह अर्थ दैहिक चित्तात्मक होता है, प्रत्ययात्मक नहीं होता और इस कारण चित्र, भवन या शब्द में अंकनीय नहीं होता। प्रत्ययात्मक चेतना में उन्मीलित विषयिता अपार और अथाह अर्थ-राशिमय होती है और इस प्रकार अनेकानेक चित्रांकनीय, सांगीतिक और शाब्द बिम्बों में विमृश्य और निरूपणीय हो सकती है, जबकि दैहिक चित्तात्मक अर्थ में ऐसी कोई संभावना नहीं होती। अब, कला का सत्य कला के इस स्वरूप से संबद्ध है। इसके विपरीत निर्मल जी कला को रोजर फ्राई तथा मलार्मे के मतों के अनुसरण में शब्द-योजना, वर्ण-रेखा-योजना या स्वर-योजना : इसे शब्द-शिल्प, वर्ण-रेखा-शिल्प और स्वर-शिल्प भी कह सकते हैं : में देखते हैं और टाल्स्टाय तथा नीत्शे कला को सत्य को आपिहित करने वाले हिरण्मय पात्र के रूप में देखते हैं। इन दोनों मतों की भ्रान्तता हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किन्तु हमारे विवेचन की युक्तता समझने के लिए एक अन्य मत का निराकरण उपयोगी होगा। यह मत कला विषयक पारंपरिक मत के प्रतिष्ठित विवेचक प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र जी पांडे का है। पांडे जी कला को सौन्दर्य-सर्जन के रूप में परिभाषित करते हुए कहते हैं “सौन्दर्य नैसर्गिक वस्तु का धर्म नहीं है, प्रत्युत कल्पना द्वारा आयोजित प्रतिभास (पर्सपेक्शन) का आलंबन-धर्म है, और वह कहीं पर भी संभव है। सूर्यास्त और फूल सबको नहीं रुचते, किन्तु मन की अवस्था विशेष में कल्पना अभ्यस्त रूढ़ि-सरणियों को लौघकर, जिस किसी दृश्य को लेकर अपूर्व प्रतिभास की रचना कर डालती है, जहां सामान्य विषय भी अर्थ-सौन्दर्य के निर्भास से गवाक्ष बन जाते हैं, जैसे टूटा हुआ ताँगा, मलिन संचार-वीथिका (गली), धूल में फेंकी बुझती हुई सिगरेट। पहले असुन्दर-कुरूप प्रतीत होने वाले ये विषय दृष्टि-भेद के कारण क्षण में रूपान्तरण धारण कर लेते हैं और शोभित होने लगते हैं।”¹ यहां पांडेजी कलाकृति को कल्पना द्वारा आयोजित प्रतिभास कह रहे हैं जिसका आलंबन-धर्म सौन्दर्य है और अर्थ-सौन्दर्य के निर्भास से बना गवाक्ष भी कह रहे हैं। किन्तु ये दोनों एक ही बात नहीं हैं। टूटे ताँगे या धूल में पड़े बुझते सिगरेट के चित्र चित्रित ताँगे और सिगरेट के समान ही प्रतिभास-विषय के रूप में असुन्दर ही होंगे, चित्र रूप में उनका सौन्दर्य उनके अर्थ-गवाक्ष बनने में है। किन्तु प्रतिभास (पर्सपेक्शन)

1. **सौन्दर्य-दर्शन विमर्श** : हिन्दी अनुवादजगन्नाथ पाठक, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 121

के विषय को और अर्थ को समान रूप से सुन्दर कहना चित्र की कलात्मकता को समझने में केवल बाधक ही बनता है, साधक नहीं। चित्रित टूटा ताँगा या धूल में लुंठित बुझता सिगरेट कलाकार में उद्दीप्त किसी आनुभूतिक अर्थ के व्यंजक (गवाक्ष) के रूप में कलाकृति होते हैं। उसे यदि सुंदर कहना है तो उस सौन्दर्य को अर्थ का आलंबन-धर्म ही कहना होगा, प्रतिभास का नहीं। किंतु सौन्दर्य के इन दो रूपों में कोई साम्य नहीं है। रेखांकन में कलाकार की कुशलता उसकी व्यंजकता में विदग्धता और सम्यक्ता में होती है, उसका मनोरमता में नहीं, और उसका व्यंग्य वेदना या विचार के आनुभूतिक अर्थोन्मीलन का बिम्बात्मक साक्षात्कार होता है। यह अर्थोन्मीलन विपुल या दरिद्र, गहन या उथला, स्फुट या धुँधला हो सकता है, उसकी सुन्दरता उसकी उदात्तता, उन्नायकता और हर्षकता की पर्याय होती हैजिस अर्थ में सत्य और शिव को सुन्दर और सुन्दर और शिव को सत्य कहा जाता है। यह सौन्दर्य वैसा ही होता है जैसा अद्वैत करते रामकृष्ण परमहंस के या दंत-शून्य महात्मा गांधी के चेहरे का सौन्दर्य। किन्तु यह सौन्दर्य बिपाशा बसु या सलमान खान के सौन्दर्य से परिभाषया विपरीत है। उपर्युक्त चित्रों में चित्रण अपनी व्यंजना के सत्य से, व्यंग्य अर्थ कलाकार की अनुभूति के सत्य से, और आनुभूतिक अर्थ अपनी विपुलता और गहनता से उपलक्षित होते हैं और यही इनका सौन्दर्य हैयदि इसे सौन्दर्य कहना ही हो तो।

किन्तु सत्य शब्द के ये तीन प्रयोग ही परस्पर समानार्थक नहीं हैंव्यंजना का सत्य व्यंग्य के अनुरूप होने, उसे यथावत् प्रकट करने में होता है किन्तु अनुभूति का सत्य अनुभव-कर्ता के आत्म-प्रमाण होने में होता है। तब कला के सत्य का क्या अर्थ है? टाल्स्टाय और नीत्शे उसे जीवन के सत्य को ढँकने वाला कहते हैं, किन्तु जीवन का सत्य क्या है? मैं इधर टाल्स्टाय की हेनरी ट्रोयट द्वारा लिखित जीवनी पढ़ रहा था। उसने टाल्स्टाय के जीवन का बहुत विस्तृत और प्रामाणिक विवरण दिया है। किन्तु मैं निरन्तर अनुभव कर रहा था कि जीवनी आत्मकथा के रूप में ही ठीक हो सकती है, परकथा के रूप में नहीं। क्योंकि कर्मो-कृत्यों को करने वाले ने क्या मानते हुए किया, कर चुकने पर उसने उन्हें कैसे देखा, यह उन कर्मों का अधिक महत्त्वपूर्ण अंग होता है बजाय कर्मों के बाह्य रूप के। अब, टाल्स्टाय जिसे जीवन का सत्य कह रहे हैं वह तो वही हो सकता है जो उन्होंने अपने जीवन में स्वयं देखा है, अन्य के द्वारा देखे गए उसी जीवन का सत्य दूसरा होगा, तब भी जबकि स्वयं कर्ता द्वारा भी देखा गया वह जीवन भी बाह्यतः दृश्य ही होता है। हमारे द्वारा जिये गए जीवन के भी दो रूप होते हैंएक वह जो हम जी रहे होते हैं और दूसरा वह जो जी चुकने के बाद हमारा आलोच्य होता है। किन्तु दोनों में किसी भी रूप के सत्य-असत्य का क्या अर्थ हो सकता है? गांधी जी का जीवन सत्य के प्रयोग का ही जीवन था। अर्थात् जीवन का सत्य उसके होने में नहीं उसके अनुसन्धान में था और अनुसंधेय वह सत्य था जो प्रयोग से प्रमाणित हो। तब टाल्स्टाय जीवन के किस सत्य की बात कर रहे हैं? स्वयं

उनका जीवन भी सत्य से भ्रष्टता का या सत्य के प्रयोगों में असफलताओं का विवरण ही कहा जा सकता है, जैसाकि उनकी डायरियों से देखा जा सकता है। अब, उपन्यासकार भी अधिकांशतः आत्मकथाकार ही होता है, मुंशी प्रेमचंद भारतीय समाज के आत्मकथाकार थे, भारतीय कृषक-जीवन के भी। उनके सम्बन्ध में निर्मलजी कह रहे हैं कि वे उसकी पूरी गहराई नहीं नाप पाये। वे यह नहीं कह रहे हैं कि वे कलात्मक सौन्दर्य-सृजन में पड़कर भारतीय कृषक के जीवन को भूल गए। द्रष्टव्य है कि हम अपना जीवन गहराई में उतरकर भी जी सकते हैं या उथले में रह कर भी जी सकते हैं। कबीर ने कहा ही है मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ। रमेशचन्द्र शाह ने कुछ उपन्यास आत्मकथात्मक ही लिखे हैं, जिनमें उन्होंने अपनी आत्मकथा की सच्चाई पाने के लिए कुछ ऐसे सम्बन्धों-सम्बन्धियों और घटनाओं का आविष्कार किया है जो पूर्णतः काल्पनिक हैं, किन्तु उनके अनुसार वे उनकी आत्मकथा के अधूरेपन को पूरा करने के लिए आवश्यक थे। यह एकदम ठीक है, क्योंकि मनुष्य जैसा घटित होता है वैसे में उसके जीवन का सत्य पूरा नहीं हो जाता, बल्कि बहुत कुछ होता है जो घटित होने से रह गया होता है किन्तु उसके बिना उसकी आत्मकथा अधूरी रह गयी होती है। किन्तु तब भी रमेश जी द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं की मैंने वही कहकर आलोचना की जो निर्मलजी ने प्रेमचंद द्वारा लिखी भारतीय किसान की आत्मकथा की की है कि वे उस जीवन की गहरी तहों तक नहीं उतर पाये। यहां मैं महात्मा गांधी की आत्मकथा का पुनरुल्लेख करना चाहूंगा। वे उसमें अपने जीवन की उन घटनाओं का उल्लेख भी कर रहे हैं जो उनके अनुसार उनके जीवन का झूठ है, किन्तु वैसा सत्य है जिसे टालस्टाय जीवन का जटिल सत्य कह रहे हैं। जीवन को जीने वाला कोई भी आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति अपने जीवन को असत्यों का पुलिंदा ही पाता है। अब ये सब सत्य : प्रेमचंद के द्वारा पर्याप्त गहराई में नहीं देखा गया भारतीय कृषक-जीवन का सत्य, महात्मा गांधी द्वारा अपने जीवन का साध्य सत्य, टालस्टाय के जीवन का यथातथ सत्य : ये कोई अचल प्रतिष्ठ सत्य नहीं होते, जिन्हें हाथ बढ़ा कर हम छू सकते हैं और छू कर प्रमाणित कर सकते हैं वेदान्तियों को साँप दिखायी देने वाली रस्सी के समान, ये सत्य ऐसे होते हैं जिनमें चेतना उन्मीलित होती है और उसे उतना ही देख पाती है जितना उसमें डूबने का उसमें साहस होता है, और जितनी उसकी आँखों की क्षमता होती है।

यहाँ यह पुनः स्मरण दिलाना उचित होगा कि कलाकार चेतना की विषयिता के पक्ष का विमर्शक होता है। यह विमर्श भी उसके आत्मचेतन होने से ही संभव होता है, जिस चेतना का सहज रूप अपनी विषयिता के विषयकरण में घटित होता है, और इस प्रकार जो कला-दृष्टि के विपरीत भाव होता है अस्मिता-बोध, अपने को अपना इतर होकर देखना। आत्म-कथाकार भी यही करता है, वह अपना इतर होकर अपनी कथा का वाचन करता है। किन्तु उपन्यासकार को अन्य के अन्तर की कथा उसके

अन्तर में पैठकर वैसे ही कहनी होती है जैसे कोई मूर्छा में अपनी कथा कहता है। गीत में कवि अपनी विषयिता का ही गायन करता है किन्तु मूर्छा में बोलने और कला-रचना में यह अन्तर होता है कि कलाकार सतर्क विमर्शक भी होता है विषयिता का विमर्शक। उसका सत्य किसी विषयिता में वस्तुतः घटित होने और इस घटना के विमर्श की सम्यक्ता में होता है। हम स्वयं अपने अन्तर में ही कभी अपने अंतर की पूर्ण वास्तवता में घटित नहीं हो पाते, न उसकी वास्तवता में उसको समझ पाते हैं और न समझे गए को सम्यक्तया निरूपित कर पाते हैं। ऐसी अपूर्णता या वंचना केवल आत्मचेतन चेतना में ही होती है, जो चेतना अपने को देखने के कारण ही अपने से इतर हो जाती है। किन्तु तब विषयिता में तो ऐसा नहीं होना चाहिए जिसमें अपने से अपना अभेद रहता है। यह अभेद अपनी विषयिता से ही नहीं, अन्य की विषयिता से भी रहता है। किन्तु जैसाकि हम देखते हैं, कला में विषयिता ही अवगाहनीय होने पर भी उसके लिए अनवगाह्य रहती है। ऐसा चेतना की प्रत्ययात्मकता के कारण होता है। प्रत्यय अर्थों की अपार संभावना में चेतना के उन्मेष का पर्याय है। आत्मचेतन चेतना को ये प्रत्यय सहज रूप से विषयतया ही गोचर होते हैं, किन्तु इस चेतना में यह भी योग्यता होती है कि यह विषयिता में भी अर्थों की अपारता में उन्मीलित हो सकती है। कलाकार इन अर्थों का विमर्शक होता है। उसका सत्यासत्य इस विषयिता में घटित होने की वास्तवता-अवास्तवता में (सच्चाई) और इस घटना के विमर्श की सम्यक्ता-असम्यक्ता में होता है। यहां ईशावास्योपनिषद् के एक मंत्र का सहारा लेना इस परिस्थिति के स्पष्टीकरण में सहायक होगा, यद्यपि उस मंत्र का संदर्भ इससे भिन्न है। मंत्र हैकविर्मनीषीः परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (अर्थात् उस सर्वव्यापी और आत्मपूर्ण मनीषी कवि ने अर्थों, वस्तुजगत् के पदार्थों को : शाश्वत रूप से उनकी याथातथ्यता के साथ रचा।) अब, यदि वह कवि परिभू-स्वयंभू नहीं होता तो वह अर्थों की अयथातथ्य रचना भी कर सकता थाजैसाकि हम स्वप्न में करते ही हैं, और अपूर्ण याथातथ्य के साथ रचना करना तो हमारी नियति ही है, क्योंकि हम अपूर्ण हैं। जैसी विचारक-कलाकार के रूप में हमारी है। कलाकार के रूप में अर्थ-रचना या अर्थावगाहन में याथातथ्य की न्यूनता या अपर्याप्तता तथा अभाव अनेक प्रकार से हो सकता है। पीछे हमने निर्मलजी की प्रेमचन्द तथा रामकुमार पर टिप्पणियाँ उद्धृत की थीं जिसमें याथातथ्य की अपर्याप्तता-पर्याप्तता बतायी गई है, दूसरे प्रकार की पर्याप्तता-अपर्याप्तता का रूप हमने आत्मकथा-लेखन में दिखाने का प्रयत्न किया। तीसरे प्रकार के उदाहरण मीरा और कबीर की तथा महादेवी की प्रेम-कविताएँ हो सकती हैं। प्रथम दो की प्रेम-कविताएँ जबकि अपनी भावना में घटित होने में सत्य और उस घटना के विमर्श की सम्यक्ता में पर्याप्तता के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं महादेवी जी की कुछ कविताओं में, जैसे निम्न दो में, इसका अभाव देखा जा सकता है

में नीर भरी दुःख की बदली
स्पन्दन में चिर निस्पंद बसा, क्रंदन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते, पैरों में निर्झरिणी मचली ।

अथवा

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात ।

वास्तव में इस दूसरे प्रकार के उदाहरण अधिकांश कविताएँ प्रस्तुत करती हैं, और इसी प्रकार बहुत सी कहानियाँ और उपन्यास भी करते हैं। यहाँ द्रष्टव्य है कि कलाकार द्वारा विषयितया घटित होने और उस घटना के विमर्श में अपनी विषयिता और अन्य की विषयिता में भेद की कोई बात नहीं होती। कहा जा सकता है कि कवि-कथाकार सदैव आत्मकथाकार ही होता है इस अंतर के साथ वह अपनी कथा में विमर्शकतया घटित होता है, निरीक्षक नहीं होता। कालिदास अज-विलाप में, भवभूति राम-विलाप में और गोदान के प्रेमचन्द भारतीय किसान के जीवनी-लेखन में ऐसे ही आत्मकथाकार हैं। यह इनके विलाप या कथा-कथन और टाल्ल्टाय की हेनरी ट्रोयेर के द्वारा लिखी गई जीवनी में तुलना कर देखा जा सकता है। कला-रचना को विषयिता-विमर्श कहने से हमारा यही आशय है।

अन्त में यह स्पष्टीकरण स्थाने होगा कि विषयिता का अर्थ वेदना-आवेगमूलक भावना ही नहीं है, विषयिता चित्त के सभी आयामों की अन्तर्गतार्थता है और इस प्रकार हर्ष, विषाद, प्रेम, विरह ही नहीं, सोचना-समझना, विवेक, विवेचन ये सब भी अपने घटित होने में विषयिता ही होते हैं। निर्मल जी अंतिम अरण्य में अधिकांशतः विचारक मननशील की भूमिका में ही हैं और प्रसादजी तो कामायनी में प्रत्ययों के ही आत्मकथाकार हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में वेदव्यास श्रीकृष्ण के विचारक रूप की भूमिका में हैं। इस प्रकार काव्य और कलाओं को भावनात्मक मात्र देखने वाली दृष्टि असम्यक् दृष्टि ही कही जायेगी और रस तथा सौन्दर्यवादी दृष्टि यही है। कला का व्यावर्तक लक्षण विषयिता का विषयितागत विमर्श ही कहा जा सकता है और इस विमर्श की युक्तता और सम्यक्ता में ही कला का सत्य चरितार्थ होता है।

भारत की राजनीतिक संस्कृति एवं चुनाव

डॉ. कुमार विमल*

मुद्दों का मलखम कमजोर हो रहा है

आज के चुनावी परिदृश्य से जाहिर होता है कि अब राजनीति में मुद्दों का मलखम कमजोर हो गया है और क्षेत्रीयता, जातीयता तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता के घटक मजबूत हो गए हैं। राजनीतिक दलों की बहुलता ने सत्ता की महत्वाकांक्षा को उकसा दिया है, जिससे समाजार्थिक परिवर्तन की मूल और मुख्य बातें चुनावी दंगल में गौण हो गई हैं।

गौर से सोच-विचार करने पर यह बात सामने आती है कि 'बैलेट' 'बुलेट' से ज्यादा ताकतवर होता है और मतदान-पेटी समाजार्थिक परिवर्तन लाने में कारतूस-पेटी से ज्यादा कारगर साबित हो सकती है। जनतंत्र हमें चुनावों के माध्यम से बहुत बड़ा परिवर्तन लाने का अवसर देता है; किन्तु हमारे मतदाता अपने मतपत्रों की ताकत का सही अनुमान नहीं रखने के कारण व्यक्तिगत रूप में और सामूहिक रूप में अपने मत-पत्रों का उपयोग सोच-समझ कर नहीं कर पाते हैं। अपराधी, भ्रष्टाचारी और ताकतवर लोग आम जन को अपने मत-पत्रों का सही और निर्भीक उपयोग करने का अवसर ही नहीं देते हैं। 'बेचारा' मतदाता चाहे भी तो क्या करे?

किन्तु, इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि पुराने संस्कारों का 'एलिटिस्ट' लोकतंत्र हिन्दुस्तान में आज उन तथाकथित अकुलीनों और कमेरों की गिरफ्त में आता जा रहा है, जिन्हें सूचना-समृद्ध नागरिक-समूह (well-informed citizenry) नहीं कहा जा सकता। इसलिए सत्ता के स्वाद से सुपरिचित लोग ज्यादा बमचख मचा रहे हैं और उन्हें चारों ओर शालीनता में तथा मूल्य-मानों में गिरावट ही गिरावट नजर आ रही है।

गिरावट की बात बहुत दूर तक सच है। राष्ट्रीय राजनीतिक दल सिकुड़ते जा रहे हैं, उनके 'वोटों' और 'सीटों' का आनुपातिक प्रतिशत घटता जा रहा है, क्षेत्रीय

* डॉ. विमल कुमार, जानेमाने शिक्षाविद्, प्रशासक एवं लेखक, पता: 96, एम.आई.जी.एच, लोहिया नगर, पटना-20, दूरभाष : 0612-2352944, चलभाष : 94310-20950

राजनीतिक दल बढ़ते जा रहे हैं, अनेक तरह की 'उपराष्ट्रीयताएँ' (Subnationalities) सिर उठा रही हैं, चुनावों के गणित ज्योतिष और फलित ज्योतिष में 'जातीय' ग्रहों की गणना प्रधान होती जा रही है, 'आइडेंटिटी ग्रुप्स' अब 'प्रेसर ग्रुप्स' बन गए हैं, 'नेता' 'मतदाता-प्रबन्धक' (वोट मैनेजर) बनते जा रहे हैं, राजनीतिक दलों में आन्तरिक जनतंत्र शून्य पर पहुँचता जा रहा है, 'विचारधारा' वाले दल भी अपने सिद्धान्तों के साथ अपने चाल-चरित्र का मेल नहीं बैठा पा रहे हैं, सत्ता पाते ही प्रायः सभी दलों के लोग सुख-सुविधाभोगी और परिवारवादी बन जाते हैं, संसद और अन्य विधायिकाओं की बैठकों की संख्या प्रतिवर्ष घटती जा रही है और चुनावी राजनीति में मुद्दों का मलखम कमजोर होता जा रहा है। कितना गिनाया जाय! चार 'सी' और तीन 'एम' के बिना चुनाव जीतना मुश्किल है। चार 'सी' का मानी है 'कास्टिज्म' (जातिवाद), 'कॉम्युनलिज्म' (सम्प्रदायवाद), 'कॉरप्शन' (भ्रष्टाचार) और 'क्रिमिलाइजेशन' (अपराधीकरण)। इसी तरह तीन 'एम' का मानी है 'मनी', 'मस्ल' और 'माल-प्रैक्टिस'। इन्हीं तीन 'एम' के बूते पर 'पोलिंग बूथों' पर गड़बड़ियाँ होती हैं। कितना बढ़िया 'मॉडेल कोड ऑफ कन्डक्ट' बना हुआ है। 'राष्ट्रीय मतदाता जागरण अभियान' के कितने अच्छे जुमले हैं। चुनाव की पवित्रता और निष्पक्षता पर चौकस नजर रखने वाली संवैधानिक संस्था 'चुनाव आयोग' है हमारे यहाँ। कानून मंत्रालय द्वारा जारी तीन खण्डों वाला 'मैनुअल ऑफ इलेक्शन लौज' है। जनप्रतिनिधित्व अधिनियम में एक से एक अच्छे उपबन्ध, प्रावधान और बन्धेज हैं। लेकिन व्यावहारिक धरातल पर चुनाव में इतनी धाँधलियाँ हैं कि रोंगटे खड़े हो जाते हैं। और तो और, माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने 2 मई, 2002 ईस्वी के ऐतिहासिक फैसले में जो निर्देश दिए हैं और संविधान की धारा संख्या 19(1)(a) की जो व्याख्या की है और उस व्याख्या के तहत उम्मीदवारों के पूर्ववृत्त को जानने के लिए चुनाव आयोग ने संविधान की धारा संख्या 142 और धारा संख्या 324 के मुताबिक चुनाव की स्वच्छता हेतु और अपराधी चरित्र के निष्कासन हेतु उम्मीदवारी की घोषणा की नियमावली में जो नए बन्धेज लगाए हैं, उनके भी काट अपराधियों और भ्रष्टाचारियों ने निकाल लिए हैं। नतीजा यह है कि हमारे संविधान-निर्माताओं ने वेस्टमिनिस्टर मॉडेल, कांग्रेसनल मॉडेल और कनाडियन मॉडेल के सर्वोत्तमों को मिला-जुलाकर जिस संसदीय जनतंत्र का रूप निरूपित किया था, उस जनतंत्र के परखचे उड़ाए जा रहे हैं और हमारा जनतंत्र भीड़तंत्र (Mobocracy), जड़मतितंत्र या 'बूबोक्रेसी' (Boobocracy) में बदलता जा रहा है। आज लोगों का विश्वास लोकतांत्रिक प्रक्रिया से उठता जा रहा है और हमारे देश में जनतंत्र के लिए अपेक्षित राजनीतिक संस्कृति विकसित नहीं हो पा रही है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि बालिग मताधिकार की कारतूस-पेटी (bandoleer) से भय खाने वाले सफेदपोश सुविधाभोगी वर्ग के लोग अब अपने वर्ग-हित की रक्षा के लिए जनतंत्र और बालिग मताधिकार की अवधारणाओं को

खारिज करना चाहते हैं और इनके विरुद्ध वे तरह-तरह के तर्कों के तीर अपने तरकस में जमा कर रहे हैं।

तब सवाल उठता है कि क्या इस लोकतंत्र की प्रणाली को छोड़ दिया जाय? प्रायः सभी विकासमान देशों में लोकतंत्र कमोबेश इसी दशा से गुजर रहा है और वहाँ लोकतंत्र 'आम जन' के हाथों में आता जा रहा है तथा जन-प्रतिनिधियों का वर्ग-चरित्र बदलता जा रहा है। यह लोकतंत्र के विकास की एक दशा है। कहा जाता है कि बीसवीं शताब्दी संसदीय जनतंत्र की शताब्दी थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जहाँ अमेरिका और यू.के. सहित कुल छह यूरोपीय देशों में जनतंत्र था, वहाँ आज दुनिया के लगभग 180 देशों में एक सदनीय (uni-cameral) या द्विसदनीय (bicameral) पूर्णप्राय जनतंत्र है और लगभग 12 देशों में सीमित जनतंत्र है। केवल चीन, नाइजेरिया, उत्तर कोरिया, क्यूबा और लगभग एक दर्जन अफ्रीकी देश जनतंत्र के साये से बाहर हैं। इस तरह अभी दुनिया की कुल दो-तिहाई आबादी जनतंत्र की छतरी के नीचे है। यह दूसरी बात है कि मध्यपूर्व इस्लामी देशों और साम्यवादी देशों में जनतंत्रीय संसदीय प्रणाली अभी कई दृष्टियों से पूर्ण विकसित नहीं है। इस वैश्विक पृष्ठभूमि में हमारे लिए 'नन-डेमोक्रेसी' की ओर बढ़ना उचित नहीं है। गरीबों को जनतंत्र के जरिये राजनीतिक शक्ति हासिल हो सकती है और राजनीतिक शक्ति के बिना चिरकाल से आती हुई गरीबी को दूर नहीं किया जा सकता है। आज का जमाना 'पावर थ्रू पार्टिसिपेशन' का है। अतः गरीबों के उत्थान के लिए जनतंत्रात्मक पद्धति के सहारे सत्ता में भागीदारी आवश्यक है। साथ ही, बहुवर्णी या 'प्लूरल' समाज की विविधता को बचाए रखने के लिए जनतंत्र से बेहतर कोई अन्य विकल्प नहीं है। कारण, जनतंत्र राजनीतिक व्यवस्था का 'मज्झिम निकाय' है, जिसमें विभिन्न मतों के बीच नमनीय समायोजन की क्षमता (accommodating capacity) सर्वाधिक है।

'आज' को कोसने और बीते 'कल' का गुणगान करने से हमारा काम चलने को नहीं है। शायद, मुद्दे की राजनीति माहौल को बदल सकती है। तभी आज की धुँधली, 'ओपेक' और गड्ढमड्ढ (messy) राजनीति आने वाले दिनों में पारदर्शी और साफ-सुथरी हो सकती है। यदि हम सर्वसमावेशी विकास, रोजगारों का सृजन, महँगाई पर नियंत्रण, गरीबी और असमानता का विनाश, आतंकवाद का मुकाबला, शिक्षा का स्तरोन्नयन, राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्र की संप्रभुता का सुदृढ़ीकरण, भ्रष्टाचार का निषेध इत्यादि जैसे मुद्दों को अपनी चुनावी राजनीति का वास्तविक मुद्दा बना सकें, तो बिगड़ी हुई बात बन सकती है। हमें स्वीकार करना होगा कि शहरों में ही नहीं, ग्रामीण इलाकों में भी खुशहाली लाने वाले कई परिवर्तन आए दिनों हुए हैं—सड़क, मोबाइल और अन्य संयोजकों, 'कनेक्टिविटी' के कारण गाँवों तथा शहरों की दूरियाँ घटी हैं। साथ ही, पंचायती राज ने समाज के चक्के को निचले हिस्से को ऊपर आने का मौका दिया है और सुदूर गाँवों में शिक्षा के प्रति भी रुझान बढ़ा है। सन् 1940-42 ईस्वी तक जिन

गाँवों में पगडंडियाँ थीं और जिनके आजू-बाजू से ऊबड़-खाबड़ कच्ची सड़कें गुजरती थीं, वहाँ अब टमटम, रिक्शा, ऑटो और बसें चलती हैं। यह नया लक्षण अवश्य ही चिन्ता का विषय है कि अब 'विकास' पर भी, सच्चर कमीशन की अनुशंसाओं के सन्दर्भ में, साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार किया जाने लगा है; जबकि 'विकास' का मुद्दा धर्म-सम्प्रदाय से ऊपर का विषय है और वह तत्त्वतः 'सर्वसमावेशी' है।

आज के राजनीतिक परिदृश्य में कितना अच्छा होता कि जातीय समीकरण और क्षेत्रीय उमंग को महत्त्व देने वाले राजनीतिक दल 'विचार-धारा' के महत्त्व को भी समझते, वामपंथी 'विचारधारा' वाले दल अपने अन्तर्राष्ट्रीय सुर में कुछ राष्ट्रीय स्वरो को भी प्रवेश देते, दक्षिणपंथी विचारधारा वाले राजनीतिक दल अल्पसंख्यकों और अकुलीनों की भी सुध लेते, वंशवादी और परिवारवादी नए-पुराने राजनीतिक दल अपनी पार्टी के आन्तरिक जनतंत्र को जीवित कर पाते, धर्मनिरपेक्षता (अल्पसंख्यकतावाद या नकली धर्मनिरपेक्षता!) की अंधाधुंध तान छेड़ने वाले राजनीतिक दल बहुसंख्यकों के हित का भी ध्यान रखते, 'प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी' 'पब्लिक इन्टेलिक्चुअल' बनने की कोशिश करते और हमारे नेता केवल 'वोट बैंक' को ध्यान में रखकर राष्ट्रीय समस्याओं पर बोलते समय स्पष्टवादिता से दूर नहीं भागते। भारत जैसे विशाल देश को 'खरगोशों का देश' बनाना उचित नहीं है।

यह तो आसानी से जुड़ने वाले और क्षण भर में टूटने वाले गठबन्धनों का दौर है। पहले राजनीतिक दलों का गँठजोड़ होता था और संविद् सरकारें बनती थीं। अब राजनीतिक दलों के गँठजोड़ से 'मोर्चे' बनते हैं और मोर्चों के मेल से मिली-जुली सरकारें बनती हैं। सत्ता का एक अनार और सत्ता के भूखे सौ बीमार! यही तो है आज की राजनीति, खासकर चुनावी राजनीति। एक ओर 'वोटगर्दी' और दूसरी ओर 'दहशतगर्दी'! एक साथ कितने सवालिया निशान अँगूठे के बल उचकर कर खड़े हो गए हैं! अभी तो चुनाव के पहले का (प्रि-पोल) तालमेल चल रहा है। देखिए, चुनाव के बाद (पोस्ट-पोल) के तालमेल का नजारा कैसा बनता है? नजारा कैसा भी बने, 'न्यूनतम साझा कार्यक्रम' (मिनिमम कॉमन प्रोग्राम) और 'आम सहमति' (कॉन्सेन्सस) के आधार पर 'मज्झिम निकाय' जनतंत्र हमारे देश के रथ को आगे बढ़ा ही सकता है।

जनादेश, 2009 के निहितार्थ

क्षेत्र-बहुल, धर्म-बहुल, भाषा-बहुल, संस्कृति-बहुल, दल-बहुल और जाति-बहुल भारत जैसे विशाल देश के जनतंत्र के जनादेश के आशय को उसके सभी प्रमुख और गौण पक्षों को समझना या आकलित करना आसान काम नहीं है। जनादेश, 2009 के भी निहितार्थ अनेक हैं : प्रमुख, स्थूल, गौण और सूक्ष्म, जिनकी विवेचना छिटपुट ही सही आवश्यक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अब केवल जाति या धर्म और वर्ग या क्षेत्र-विशेष के नाम पर यानी 'पहचान' (आइडेन्टिटी) की राजनीति के बल पर किसी राजनीतिक दल या व्यक्ति को वोट नहीं मिल सकता। पहचान (आइडेन्टिटी) के साथ ही 'विचारधारा' (आइडियोलॉजी) और सुनिश्चित कार्यक्रम की घोषणा (मैनिफेस्टो) भी चाहिए। इस तरह निर्वाचन में जीत के लिए ये तीन कारक आवश्यक हैं पहचान, विचारधारा और घोषित कार्यक्रम या कार्य-नीति।

दूसरी बात यह है कि भारत का जन-मानस ध्रुवान्तों की राजनीति के पक्ष में नहीं देख पड़ता। वर्तमान जनादेश ने दोनों ध्रुवान्तों-दक्षिण-पन्थी ध्रुवान्त और वामपन्थी ध्रुवान्तको नकार दिया है। भाजपा को मोदी-वरुण जैसे कारक ने घाटे में डाल दिया और वामदल को करात-नन्दीग्राम-सिंगूर-लालगढ़ जैसे कारक ने घाटे में डाल दिया। शायद, धर्म-निरपेक्षता की छवि वाला कोई मध्यममार्गी राजनीतिक दल ही भारतीय मानसिकता को, जो स्वभावतः 'पैसिव' और 'सहिष्णु' (tolerant) है, स्वीकार हो सकता है। इस देश के विभाजन के इतिहास ने और उससे पूर्व भी भारत में इस्लाम और ईसाई शासन के आगमन के इतिहास ने यह साबित कर दिया है कि हिन्दू मानसिकता (जो भारतीय मानसिकता का बहुत बड़ा अंश है) दबू और अदूरदर्शी होती है। स्वतंत्रता-संघर्ष और स्वतंत्रता प्राप्ति के महाजागरण-काल में भी कट्टर मुस्लिम लीग ने इस देश को खण्डित कर 'पाकिस्तान' पा लिया। देश की आन्तरिक केन्द्रीय राजनीति में अब मुसलमान वोटों की ताकत निर्णायक महत्त्व रखती है। जनादेश, 2009 के फलाफल के बारीक विश्लेषण से यह बात प्रकट होती है। पश्चिम बंगाल में मुसलमान वोटों ने माकपा को भारी झटका दिया, उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह 'फैक्टर' और आजम खॉं 'फैक्टर' के कारण सपा से टूटे मुस्लिम मतदाताओं ने सपा को दूल्ती देकर कांग्रेस को (कई सीटों पर) जिता दिया तथा इस देश की अंदरूनी इस्लामी ताकत ने, भीतर ही भीतर एकजुट होकर, केन्द्र में भाजपा को सत्ता पर काबिज नहीं होने दिया।

तीसरी बात यह कि जनादेश ने 'पद-धारण की सततता का विरोध' (Anti-incumbency) वाले कारक को भी नकार दिया है, जिसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

चौथी बात यह कि जातीय समीकरण पर चलने वाले राजनीतिक दलों को उसी जाति-विशेष ने नकार कर यह बतला दिया है कि हमारी जाति (जाति-विशेष) के हितों के ठीकेदार केवल तुम्हीं नहीं हो और न तुम उस जाति-विशेष के एकमात्र प्रतिनिधि या नेता हो। शायद, सर्वहारा वर्ग ने विशेषकर हिन्दू-उर्दू-पट्टी के गरीबों और वंचितों ने भी वामदलों के इस भ्रम को तोड़ा है कि केवल वामदल ही उनके शुभचिन्तक हैं और वे उन वामदलों का झण्डा-पताका-डंडा पिछलग्गू खबास की तरह सब दिन ढोते

रहेंगे। अब केवल 'डोग्मा' (dogma) और 'रेटोरिक्स' से वामपंथी दलों का काम नहीं चल सकेगा।

कई विश्लेषकों की दृष्टि में भारत की वर्तमान राजनीति में वामदलों की उपयोगिता बनी हुई है। इसलिए उनकी दृष्टि में वामदलों का या वाम-लोकतांत्रिक ताकतों का संसद के मंच पर इतना क्षीण हो जाना भारत की राजनीति के लिए हितकर नहीं है। सार्थक विचार-विमर्श की उम्मीद इस देश के क्षेत्रीय राजनीतिक दलों, कुछ जातियों के समीकरण पर चलने वाले विचारधाराहीन दलों या दक्षिणपन्थी दलों से नहीं की जा सकती। ऐसे मुद्दों पर गहन विचार-विमर्श करने की क्षमता वामदलों के अलावा कांग्रेस को ही है।

पाँचवीं बात यह है कि यद्यपि जनादेश, 2009 दो ध्रुवीय राजनीति के पक्ष में अंशतः एक सकारात्मक जनादेश है, तथापि कांग्रेस की जीत को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखने का औचित्य नहीं है। इस जीत को बढ़ा-चढ़ाकर देखने वाली दृष्टि गजनिमीलिका से ग्रस्त दृष्टि ही मानी जाएगी। उसी तरह भाजपा की हार को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखा जाना चाहिए और उस हार का ठीकरा भाजपा के किसी एक नेता के सिर पर नहीं फोड़ा जाना चाहिए। भाजपा के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी विचार-धारा की परिधियों को किंचित विस्तार करे और हमारे सामाजिक 'पिरामिड' के निचले हिस्से तक अपनी पहुँच को बढ़ाकर उसके विश्वास को तथा अल्पसंख्यकों के विश्वास को जीतने की कोशिश करे। बिहार राज्य में कांग्रेस कोई खास नई जमीन नहीं काट सकी। दो संसदीय निर्वाचन-क्षेत्रों में ही कांग्रेस की जीत हो सकी। कांग्रेस की जीत उन राज्यों, पश्चिम बंगाल और केरल जैसे राज्यों में अधिक हुई, जहाँ वामदलों का खासा असर था। ज्योति बसु और हरकिशन सिंह सुरजीत के अनुभवी ओर परिपक्व नेतृत्व के बाद करात-दम्पति, येचुरी-भट्टाचार्य जैसे मार्क्सवादी-साम्यवादी नेताओं की बेलचक जिद्दी राजनीति ने अन्य राज्यों के जन-मानस में कोई अच्छा प्रभाव पैदा नहीं किया। सी.पी.एम. के अलावा अन्य वामदल भी न तो समय रहते आपस में 'एका' कायम कर सके और न अपनी राजनीति को लोचदार बना सके। हाँ, उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की जो अप्रत्याशित जीत 'संयोगवश' हुई है, उसके कई कारण टटोल और कयास में दीख पड़ते हैं। एक तो कांग्रेस के परिवार-विशेष के लोग अपने पक्ष में 'इमोशनल वोट्स' को मोड़ या बटोर सके। दूसरे, सपा को 'कल्याण सिंह-फैक्टर' और जयप्रदा-आजम खॉं विवाद के कारण अल्पसंख्यकों का अच्छा-खासा 'वोट' गँवाना पड़ा। 'कल्याण सिंह-फैक्टर' के कारण हुए सपा के इस नुकसान की भरपाई कल्याण सिंह के लोथ वोटों से नहीं हो पाई। तीसरे, विगत दशकों में सत्ता से बेदखल जन्मना प्रज्ञ मतदाताओं (तथाकथित सर्वजन की ऊपरी परत) ने कांग्रेस के अलग (स्वतंत्र) चुनाव लड़ने के मौके का लाभ उठाया और चुपचाप सपा-बसपा से कन्नी कटाते हुए उन्होंने कांग्रेस के पक्ष में मतदान कर दिया। इस तरह सपा के 'प्लस

वोट' और बसपा के 'प्लस वोट' तथा 'एडिशनल प्लस वोट' कांग्रेस को मिल गये। साथ ही, अल्पसंख्यकों ने यह महसूस किया कि गैर-वामपन्थी दलों के बीच कांग्रेस ही एक मात्र ऐसी पार्टी है, जो अल्पसंख्यकों की असहिष्णुताओं को बर्दाश्त करती हुई उनके लिए सतत तुष्टीकरण की नीति अपना सकती है। तुष्टीकरण की दृष्टि से कांग्रेस को सर्वोत्तम पार्टी मानते हुए अल्पसंख्यक मतदाताओं ने कांग्रेस के हाथों में ही अपने को सुरक्षित समझा। विचारणीय है कि भारत को अमरीकी नीतियों का ग्रास बनने से कांग्रेस कहाँ तक बचा सकेगी? जिस 'आँधी', 'न्यूजवीक मैगजीन' के अनुसार 'खामोश क्रान्ति', की चर्चा को 'मीडिया' में सुनियोजित ढंग से उभारा जा रहा है, उस आँधी में न तो देश की युवा-शक्ति का 'वास्तविक उदय' है और न इस देश का 'लोकतांत्रिक उत्थान' है। इस युवा-शक्ति के उदय के छद्म वेश में वंशवादी राजनीति (माँ-बेटा, बाप-बेटी, बाप-बेटा, ससुर-दामाद इत्यादि) का अभ्युदय है। वंशवादी युवा अभिनय को, शायद, आम जनता समझती है। संसद में नाटकीय ढंग से चर्चित उड़ीसा की कलावती के संसदीय-क्षेत्र में कांग्रेस की जीत नहीं हुई। साथ ही, उस चर्चित आँधी में कुछ गर्दोगुबार भी है, जिससे इस देश की राष्ट्रीय सुरक्षा, संप्रभुता, पिछड़ों-दलितों की ताकत और सर्वहारा वर्ग की नई सुगबुगाहटें कुप्रभावित हो सकती हैं। यों भी कांग्रेस किसी बड़े मूलभूत सामाजिक परिवर्तन अथवा शक्तितंत्र के आधारगत संरचनात्मक अदल-बदल के पक्ष में, अपनी समझौतावादी अथवा मध्यममार्गी नीतियों के कारण, नहीं रहती है और मध्य विन्दु से सटे रहकर ही 'कॉस्मेटिक' परिवर्तनों के पक्ष में रहती है। ऐसा राजनीतिक दल जब सत्ता पाने के बाद किसी कॉर्पोरेट कम्पनी या निगमित निकाय की तरह किसी नौकरशाह (ब्यूरोक्रेट) को अपनी सरकार का प्रधान कार्यकारी पदाधिकारी (सी.ई.ओ.) बना देता है, तब यथास्थितिवाद या बहुत आहिस्ता परिवर्तन, मेढ़क तौलने की सततता और अमेरिका जैसी एकल महाशक्ति के दबाव की गिरफ्त में आ जाने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। यह स्थिति किसी स्वतंत्र-जनतंत्र या प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र के लिए हितकर नहीं होती। अब यहाँ प्रधान मंत्री, जवाहरलाल नेहरू या इन्दिरा गाँधी की तरह, अपने राजनीतिक दल का नीति-निर्धारक नेता नहीं होता; बल्कि वह केवल शासन-पक्ष के प्रधान कार्यकारी की तरह प्रधान मंत्री के पद को सँभालता है।

छठी बात यह है कि इस बार मतदाताओं के मतदान के विश्लेषण से और जनादेश, 2009 के निहितार्थों के विवेचन से यह भाषित होता है कि मतदाताओं ने शायद राष्ट्रीय महत्त्व के मुद्दों पर जैसे, बेरोजगारी, गैरबराबरी, पर्यावरण और पारस्थितिकी एवं जलवायु-परिवर्तन की समस्या, राष्ट्र की प्रभुसत्ता की सुरक्षा, ची-मेरिका और अफ-पाक नीति के दुष्प्रभावों से बचाव इत्यादि पर सोच-विचार कर मतदान नहीं किया है। देश खतरनाक पड़ोसियों से घिर गया है। समचार-माध्यमों के अनुसार पाकिस्तान ने लगभग साठ न्यूक्लियर बमों से युक्त मिसाइल का रूख भारत की ओर कर दिया

है, चीन के सहयोग से पाकिस्तान नाभिकीय शक्ति-सम्पन्न देश बन गया है, स्वयं चीन को चार सौ से भी अधिक नाभिकीय 'वार-हेड्स' और कई अन्तर-महादेशीय बैलिस्टिक मिसाइल (आई.सी.बी.एम.) उपलब्ध हैं तथा उत्तर कोरिया भी पाकिस्तान के लिए 'न्यू टेक्नोलॉजी ट्रान्सफर' का पिछला दरवाजा खोले हुए है। इस प्रकार दक्षिण एशिया या दक्षिण-पूर्व एशिया का भौगोलिक सामरिक-समीकरण (जिऑस्ट्रेटिजिक इक्वेशन) भारत के हित के विरुद्ध हो गया है। बांग्ला देश भी अप्रकट रूप में उन आतंकवादी अभियानों के लिए 'हेलीपैड' का कार्य कर रहा है, जो भारत के विरुद्ध सीमापार से संचालित होते हैं। किन्तु, इन दुश्चिन्ताओं की कोई झलक वर्तमान जनादेश में नहीं मिलती है। आश्चर्य है कि राष्ट्र पर ऐसे खतरे इस मतदान के परिणामों को प्रभावित नहीं कर सके हैं। इसलिए विचारणीय है कि यह कैसे असावधान जनतंत्र की ओर हमारा रुझान है। राष्ट्र की प्रभुसत्ता की रक्षा के प्रति सावधानी तो मतदाताओं में होनी ही चाहिए।

सातवीं बात यह है कि जनादेश, 2009 के आधार पर बनी संसद में कुल 543 सांसदों के बीच करोड़पति सांसदों की संख्या लगभग तीन सौ हो गई है। राज्य सभा में भी करोड़पति सांसदों की संख्या काफी अच्छी है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि क्या हम जनतंत्र के नाम पर संसद के माध्यम से 'धनिकतंत्र' (Timocracy) की ओर तो नहीं बढ़ रहे हैं? गरीबों की बात दूर रही, अब लखपति नागरिक भी शायद भारतीय संसद में प्रवेश के लिए इतना व्ययसाध्य चुनाव नहीं लड़ सकता। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि संसद के माध्यम से इस देश की राजनीति पर गिने चुने परिवारों का कब्जा कायम होता जा रहा है और जनतंत्र की राजनीति विरासत की राजनीति बनती जा रही है। यह कैसा कुसंयोग है कि इस देश की राजनीति में, सिनेमा के क्षेत्र में और व्यापार-जगत में वंश, परिवार और विरासत के सोपान या वैसाखी का सहारा लिये बिना युवा-वर्ग आगे नहीं बढ़ पा रहा है? यह स्थिति देश की युवा-शक्ति, जनतंत्र और जन-हित के लिए घातक है।

आठवीं बात यह है कि मतदान के अल्प प्रतिशत के कारण इस मतदान के नतीजे सार्विक दृष्टि से असली और प्रमाणिक नहीं माने जा सकते। प्राप्त खबरों और आँकड़ों के अनुसार अधिकांश राज्यों में हर दस मतदाता में मुश्किल से छह मतदाताओं ने मतदान किया है और विजयी उम्मीदवारों की जीत कई निर्वाचन-क्षेत्रों में बहुत कम मतों से हुई है। यदि कम संख्या में मतदान करने वाले राज्यों में 80, 90 अथवा 95 प्रतिशत मतदान होता, तो उस मतदान का परिणाम इस परिणाम से निश्चय ही भिन्न और अधिक ग्राह्य होता। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक मतदान को मतदाताओं के लिए कानूनन बाध्यकारी नहीं बना दिया जाएगा, तब तक इस देश में सही प्रजातंत्र कायम नहीं हो सकेगा। यह प्रसन्नता की बात है कि आदिवासी-बहुल क्षेत्रों में

अनुसूचित जनजाति के मतदाताओं की सक्रियता बढ़ी है, जिसके फलस्वरूप उनके प्रतिनिधियों की सत्ता में भागीदारी बढ़ेगी।

कुल मिलाकर यह लोक-रंजक बात कहने की स्थिति नहीं बन पाती है कि इस देश के सभी मतदाता बहुत प्रबुद्ध हैं और वे आम तौर पर बहुत गहरी, वस्तुनिष्ठ, परिपक्व तथा बुद्धिमत्तापूर्ण समझ के साथ मतदान किया करते हैं।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें

हिंदी में दक्षिण भारतीय साहित्य (अनूदित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में), संपादक: डॉ. विजयराघव रेड्डी; प्रकाशक: अकादमिक प्रतिभा, 42, एकता अपार्टमेंट, गीता कालोनी, दिल्ली-110031(भारत), प्रथम संस्करण: 2008; पृष्ठ: 216; मूल्य: 475 रुपये।

पत्रिकाएँ

नया परिदृश्य, समय-चेतना, विचार, संवाद, सृजन की पत्रिका; वर्ष-1 अंक-1, फरवरी, 2009; संपादक: ओमप्रकाश पाण्डेय, मुन्नालाल प्रसाद, अरुण होता; प्रकाशक: ओमप्रकाश पाण्डेय, गेट बाजार (न्यू जलपाई गुड़ी) पो. भक्तिनगर, सिलीगुड़ी (प. बंगाल); पृष्ठ: 144; मूल्य: 30 रुपये।

सुमन सागर, वर्ष: 7 अंक: 20-22; मार्च, जून, सितम्बर, दिसम्बर में प्रकाशित; प्रधान संपादक: श्याम बिहारी आलोक; प्रकाशक: विनीता भवन, कांजीचक, बाढ़-803213, पटना (बिहार); पृष्ठ: 24; मूल्य: 5 रुपये।

पिनाक, साहित्य एवं संस्कृति की त्रैमासिकी; वर्ष: 2 अंक: 2 पूर्णांक: 6 अक्टूबर-दिसम्बर 2008; संपादक: शत्रुघ्न प्रसाद, प्रकाशक एवं मुद्रक शत्रुघ्न प्रसाद द्वारा निहारिका इंटरप्राइजेज, लंगर टोली, पटना से मुद्रित एवं त्रिपाठी भवन, राजेन्द्र नगर, पथ सं. 13-ए, पटना-800096 से प्रकाशित; पृष्ठ: 88; मूल्य: 15 रुपये।

यू.एस.एम. पत्रिका मई-जून 2009; (संयुक्तांक) वर्ष 6 : अंक 8; संपादक: उमाशंकर मिश्र, स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक; उमाशंकर मिश्र, 695, न्यू कोट गांव तेजाब मिल, जी.टी. रोड, गाजियाबाद से प्रकाशित; पृष्ठ: 48; मूल्य: 17 रुपये।

होरी-2 (अनियतकालीन) जून 2009; सम्पादक: राजकृमार सचान 'होरी'; स्वामी, मुद्रक व प्रकाशक: डॉ. सौरभ राज सचान, सी-245, सेक्टर-63, नोएडा (उ.प्र.); पृष्ठ: 128; मूल्य: 25 रुपये।

सूफीवाद: दर्शन और राजनीति

शंकर शरण*

इस लोक सभा चुनाव में 'सेक्यूलर दलों और उम्मीदवारों' को जिताने के लिए देश भर में सूफी सन्तों की एक यात्रा सम्पन्न हुई। नाम था सनातन सन्त सूफी यात्रा। इसका नेतृत्व अजमेर स्थित वर्ल्ड सूफी काउंसिल के चेयरमैन सैयद मुहम्मद जिलानी ने किया। उनके साथ सूफी दरगाह, राउरकेला, शेख हारुन राशिद दरगाह, बड़ौदा, और सैयद यासीन शाह बुखारी की दरगाह, हैदराबाद के सूफी थे। साथ में अयोध्या के एक महन्त जन्मेजय शरण महाराज समेत कुछ हिन्दू भी। विगत 8 से 23 अप्रैल के बीच हुई इस यात्रा में सूफी नेताओं ने दिल्ली, हैदराबाद, भोपाल, वाराणसी, पटना, बंगलौर, राँची, लखनऊ, इलाहाबाद, अहमदाबाद, जयपुर, गौहाटी आदि शहर जाकर संदेश दिया।

यह सूफी सन्त यात्रा कई अर्थ में अनोखी थी, यद्यपि पहली नहीं। अपनी सभी प्रेस कॉन्फ्रेंसों में उन्होंने दुहराया कि वे उन दलों और नेताओं का विरोध करेंगे "जो देश की सेक्यूलर संरचना को नहीं समझते", जो "धार्मिक उग्रवाद फैलाते हैं", तथा "धर्म के नाम पर लोगों को बाँटते हैं"¹ सूफी सैयद साहब के अनुसार 'इस्लाम और सनातन धर्म की विकृत व्याख्या करने वाले साम्प्रदायिक सौहार्द बिगाड़ते हैं। सहनशीलता, भाईचारा और वसुधैव कुटुम्बकम् को कुछ शैतानी ताकतें तहस-नहस करने में लगी हैं। इसलिए वे ऐसे राजनीतिकों से सावधान रहने को कह रहे हैं जो जहरीले भाषण देकर देश की सामुदायिक शान्ति भंग करते हैं।

किन्तु दिलचस्प यह कि इस सूफी यात्रा में नाम लेकर केवल बी.जे.पी की निन्दा की गई। इन्होंने मात्र बी.जे.पी. से लोगों को सावधान किया जो 'धर्म को राजनीति से जोड़कर' राजनीतिक लाभ उठाने की कोशिश कर रही है²। यद्यपि उन्होंने बी.जे.पी के चुनावी मुद्दे, आवाहन, चुनाव घोषणापत्र, किसी बड़े नेता के भाषण आदि किसी चीज का उल्लेख नहीं किया जिससे पता चलता हो कि यह पार्टी अपने किस

* IV/28, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, नसीरपुर रोड, द्वारका, नई दिल्ली 110045, bauraha@gmail.com

नारे, घोषणा या वादे से 'धर्म को राजनीति से जोड़' रही है। किसी भी तरह परखें तो बी.जे.पी. ने यह सुकर्म करने का साहस नहीं दिखाया है।

लेकिन सूफी सैयद साहब की समझ से ही देखें, तो देश में विभिन्न स्थानों से यही चुनाव लड़ रही ऑल इंडिया इत्तेहादे मिल्लत काउंसिल, ऑल इंडिया मुस्लिम लीग, पी.डी.पी., उलेमा काउंसिल जैसी अनेक जमातें क्या कर रही हैं? उस से भी गम्भीर प्रश्न यह कि 'मजहबी उग्रवाद फैलाने' में तबलीगी जमात, स्टूडेंट इस्लामिक मूवमेन्ट ऑफ इंडिया, इंडियन मुजाहिदीन, जमाते इस्लामी, देवबन्दी मदरसे आदि की क्या भूमिका है? शायद कुछ नहीं! इसलिए सूफी साहबान ने इन संगठनी का नाम नहीं लिया, न इन से लोगों को सावधान किया। अर्थात् उनकी बुद्धि से सेक्यूलर संरचना को कट्टर इस्लामपंथियों, जिहादी उग्रवादियों से कोई खतरा नहीं। जो है सो केवल बी.जे.पी. से। इसलिए इस यात्रा को मुस्लिम बेबसाइटों पर काफी जगह मिली। या फिर स्वनाम-धन्य टाइम्स ऑफ इंडिया में, जिसने वाराणसी, बंगलौर आदि कई शहरों से इस यात्रा की रिपोर्ट छपी। दरअसल, भारत में 'सेक्यूलर' का अर्थ सब समझते हैं। इसलिए इस की अपील होते ही फिर कुछ बताने की जरूरत नहीं रह जाती। आधुनिक, प्रगतिशील और सेक्यूलरपंथी हिन्दू तो 'सूफी' शब्द सुनते ही तुरन्त मोहित हो उठता है। वह न तो सूफी इतिहास जानता है, न वर्तमान। किन्तु इस के प्रति उस में एक अन्धविश्वासी श्रद्धा है।³ हमारे अधिकांश पत्रकार इसी श्रेणी के होते हैं।

इसीलिए उन्होंने इस यात्रा के सूफियों से कोई आवश्यक या गम्भीर प्रश्न नहीं पूछा। जैसे, सूफियों को सर्वोच्च स्तर की राजनीति में इतनी दिलचस्पी क्यों? ये 'वर्ल्ड सूफी काउंसिल' क्या किसी और देश में भी सेक्यूलर नेताओं, दलों को जिताने की अपील करती है, या यह इज्जत सिर्फ भारत को बख्शी है? ईरान, पाकिस्तान, बंगला देश, सउदी अरब, इंडोनेशिया, मलेशिया, मोरक्को आदि देशों में भी चुनाव होते हैं, सूफी उन देशों को मजहबी नेताओं, मजहबी उग्रवाद आदि से बचाने की चिन्ता करते हैं क्या? सेक्यूलरिज्म केवल भारत के लिए मुफीद क्यों और एक मात्र तुर्की को छोड़कर विश्व के शेष सभी 56 मुस्लिम देशों को इसकी कोई जरूरत क्यों नहीं है? फिर, यदि सूफी यात्रा के प्रतिनिधि सहिष्णुता और मानवीयता के हामी हैं तो क्या शरीयत के आदेश सहनशील और मानवतावादी हैं? अथवा वह इस्लाम की विकृत व्याख्या है? यदि नहीं तो सेक्यूलर राजनीति से शरीयत का सम्बन्ध क्या है? ऐसे अनेक प्रश्न न केवल इस चुनाव-यात्रा प्रसंग में सटीक थे, बल्कि इस सूफी अभियान को समझने के लिए भी प्रासंगिक थे। इन प्रश्नों के सूफी उत्तर में हरेक भारतीय की गहरी रुचि है। पर ऐसे प्रश्न कभी नहीं पूछे जाते।

क्योंकि तब असुविधाजनक स्थिति पैदा हो जाएगी। औलिया के लिबास में छिपी इस्लामी राजनीति तुरत सामने आ जाएगी। मीडिया में जानकर लोगों को उफ्त प्रश्नों के उत्तर मालूम हैं। किन्तु उसे व्यक्त करने के बदले छिपाना राजनीतिक फैशन

है। वस्तुतः जिन्हें उत्तर मालूम नहीं, उनकी संख्या बहुत बड़ी है। उन्हीं के लिए ऐसी सूफी यात्राएँ निकाली जाती हैं। पहले भी निकाली गई थीं। तब भी संदेश यही था। बीजेपी को हराओ। वस्तुतः भारतीय राजनीति में इस दल को हराने के लिए हर तरीका जायज माना जाता है। चूँकि हिन्दुओं में सूफियों के प्रति एकांगी धारणा फैली हुई है, इसलिए बीजेपी को हराने में इसका भी उपयोग है।

इस्लाम में राजनीति आरम्भ से ही अभिन्न रही हैदीन व दौला जहाँ तक सूफी मुस्लिमों की बात है, तो उनका इतिहास विशेषकर दारुल-हर्ब की राजनीति से जुड़ा रहा है। इसीलिए, भारत में सूफी सक्रियता इस्लाम में प्रभुत्व की सीमाओं पर ही अधिक मिलती है। अर्थात् जहाँ अभी तक इस्लामी प्रभुत्व कायम नहीं हुआ, वहाँ भी इस्लाम का 'नूर' फैले, यही सूफियों का मुख्य मकसद था। इसके लिए अनेक सूफियों ने जिहाद कर खूनी लड़ाइयाँ भी की हैं। कर्नाटक और महाराष्ट्र में ऐसे अनेक सूफियों की दास्तानें सर्वविदित हैं। गुलबर्गा में तेरहवीं सदी के एक सूफी सैयद हुसम अल-दीन तेग बरान्हा के तो नाम में ही तेग बरान्हा यानी 'नंगी तलवार' जुड़ा हुआ है, जो वे हाथ में लिए चलते थे।⁴ मुहम्मद इब्राहीम जुबैरी द्वारा संकलित *रॉजत-अल-औलिया*⁵ तथा अब्दुल जब्बार मल्कापुरी द्वारा दो खण्डों में संकलित *तजकिरा-ए-औलिया-ए-दकन* (हैदराबाद, 1912-13) में ऐसे अनेक सूफियों की जीवनियाँ मिलती हैं।

प्रायः सूफी प्रयास इस्लामी विस्तारवाद के सचेत अंग रहे हैं। यहाँ अधिकांश सूफी अरब या मध्य एशिया से आते थे। प्रायः वे किसी नए इलाके पर कब्जे को जाने वाली इस्लामी सेनाओं के साथ जाते थे और लड़ाइयाँ लड़ते थे। जैसे, प्रसिद्ध पीर मबारी खन्दायत। वे दिल्ली से अल्लाउद्दीन खिजली की सेनाओं के साथ दक्षिण गए थे और बीजापुर पर नियन्त्रण करने में बड़ी भूमिका निभाई थी। इस्लामी इतिहास में खन्दायत की ख्याति बड़े जिहादी लड़ाके की है। इसीलिए अनातोलिया से लेकर अफगानिस्तान तक, ऐसे कई सूफी एक साथ *गाजी* (जिहादी लड़ाई करने वाले) और *औलिया* दोनों कहलाते थे। 'गाजी-बाबा' शब्द का चलन उसी से हुआ जो आज भी तालिबानों के बीच चलता है। इसी प्रकार, दक्षिण-पश्चिमी भारत में मशहूर शेख सूफी सरमस्त की ख्याति अपने चुने हुए लड़कों के साथ सैनिक अभियान चलाकर हिन्दू राजाओं के खात्मों की ही है।⁶ सूफी सरमस्त अरब से आए थे। शेख अली पहलवान, शेख शाहिद, पीर जुमना आदि जैसे इस तरह के कई अन्य सूफी थे।

रिचर्ड ईटन की प्रसिद्ध पुस्तक *सूफीज ऑफ बीजापुर* (प्रिंसटन, 1978) में उस क्षेत्र के सूफियों का चार शताब्दी का विस्तृत वर्णन है। इसमें 'लड़के सूफियों' पर एक पूरा अध्याय है⁷। ईटन के अनुसार सूफियों के बारे में शान्ति-प्रेमी ईश्वरभक्त होने की सामान्य धारणा गलत है। दक्षिण भारत की ओर जाने वाले पहले सूफी जिहादी लड़ाके ही थे। तब उत्तर भारत जहाँ दिल्ली सल्तनत का राज था, वहाँ उनकी भूमिका समझी जा सकती है। ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती भी मध्य एशिया से शहाबुद्दीन गोरी के सैन्य

आक्रमण के साथ ही (1190-1192ई.) अजमेर आए थे। उनके बीच सहयोग पूर्ण सम्बन्ध थे। इस्लामी स्रोतों के अनुसार चिश्ती के सहयोग से ही शहाबुद्दीन गोरी को पृथ्वीराज चौहान को अंततः हराने और मार डालने में मदद मिली थी।⁸ स्वयं मोइनुद्दीन चिश्ती के शब्दों में, “हमने पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) को जीवित पकड़ा और उसे इस्लामी सेना के सुपर्द कर दिया।”⁹

दक्षिण भारत इस्लामी प्रभुत्व में नहीं था। इसलिए वहाँ, ईटन के अनुसार, “दारुल हर्ब की राजनीतिक पृष्ठभूमि में ये सूफी प्रायः जिहाद लड़ते हुए, मुश्किल स्थितियों में भी अनगिनत काफिरों का कल्ल करते हुए, और इस प्रक्रिया में खुद भी मारे जाते और शहीद होते मिलते हैं।”¹⁰ कई लड़ाकें सूफी अजमेर वाले मोइनुद्दीन चिश्ती और उनके ही शागिर्द, और उनके शागिर्दों, जैसे निजामुद्दीन चिश्ती, के शागिर्द थे। ऐसा भी हुआ कि सैनिक लड़ाई में भारी सफलता पाए सरदार को भी सूफी का दर्जा देकर किंवदंतियाँ जोड़ दी गईं। किन्तु सभी मामलों में सूफियों की किसी आध्यात्मिक उपलब्धि का जिक्र खोजे नहीं मिलता। तमाम ख्याति ‘काफिरों को इस्लाम तले लाने’ में सफलता की ही नोट की गई है। चाहे वह जैसे हो। बहला-फुसला कर, फरेब से या तलवार से। इसीलिए पीर-मुरीद का सम्बन्ध कई बार सीधे कमाण्डर-सैनिक जैसा ही होता था।

सूफियों की राजनीतिक भूमिका मुख्यतः इस्लाम का प्रभुत्व फैलाने की, दारुल-हर्ब को दारुल-इस्लाम में बदलने की रही है। यह इससे भी स्पष्ट होता है कि जिस इलाके में इस्लामी राज पूरी तरह जम चुका हो, वहाँ से वे चले भी चले भी जाते थे। ईटन के शब्दों में, “जिस क्षेत्र में इस्लाम का राजनीतिक दबदबा पूरी तरह कायम हो चुका, वहाँ उनकी जरूरत नहीं रह जाती थी।”¹¹ शायद इसी तर्क से हम भारत के लोकसभा चुनाव में ‘वर्ल्ड सूफी काउंसिल’ की सक्रियता को ठीक-ठीक समझ सकते हैं, जो ईरान या अफगानिस्तान जाकर सेक्यूलरिज्म की जीत सुनिश्चित करने की जरूरत नहीं महसूस करती।

2

हिन्दुओं में समन्वय शब्द के प्रति जबर्दस्त मोह है। इस मोह का यहाँ सेक्यूलर-वामपंथी लेखकों, प्रचारकों ने जम कर दुरुपयोग किया है। इसी संदर्भ में सूफीवाद के प्रति फैली इस नितांत भ्रामक धारणा को समझा जा सकता है कि यह इस्लाम और हिन्दू धर्म के समन्वय का प्रतीक है। यह प्रचार हिन्दुओं की समन्वयवादी भावना का दुरुपयोग करने के लिए किया गया है, यह इससे भी स्पष्ट है कि सूफीवाद के बारे में ऐसा प्रचार केवल भारत में किया जाता है। अरब या यूरोपीय लेखन में यह बात कहीं नहीं मिलेगी। सच यह है कि दुनिया के और यहाँ के भी सबसे बड़े सूफियों ने इसे बार-बार दुहराया है कि सूफीवाद इस्लाम के अधीन है और सरीयत को सर्वोपरि मानता है।

अल जुनैद बगदादी (830-910 ई.) सूफीवाद के एक बड़े प्रणेता थे। उन्हें शेख-उल-राह जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियों से याद किया जाता है। उन्होंने जोर देकर, दो टूक कहा था कि सूफियों के रहस्यवादी रास्ते पर मनमानी बातें कहने, करने की छूट नहीं है। उनके शब्दों में, “जो खूदा के पैगम्बर (मुहम्मद) के मार्ग पर चलता हो, उसके सिवा सभी रहस्यवादी रास्ते निषिद्ध हैं।” सूफीवाद के सभी बड़े सिद्धान्तकारों ने यही दुहराया। उदाहरण के लिए, ग्याहरवीं सदी के अल हुजवीरी तथा अल गजाली, दोनों ने बताया कि इस्लाम के आंतरिक और बाह्य पक्षों में भेद नहीं दिखना चाहिए, तथा सभी पक्षों को हर हाल में पैगम्बर के इलहाम से स्थापित खुदाई कानून, यानी शरीयत के अधीन रहना चाहिए।

अल हुजवीरी ने सत्य, यथार्थ और कानून की जो परिभाषा दी, वह सूफियों की चर्चा करते हुए सदैव याद रखने लायक है। उनके शब्दों में, “ये शब्द कि अल्लाह के सिवा कोई ईश्वर नहीं है ही सत्य है, और ये शब्द कि मुहम्मद अल्लाह का दूत हैं ही कानून है।”¹² उन्हीं का कथन यह भी है : “किसी गैर-मुस्लिम को कभी सम्मान से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि दो विपरीत कभी नहीं मिल सकते।” और “अल्लाह ने मुसलमानों को सभी दूसरों से ऊँचा बनाया है और मुहम्मद के मजहब को बचाने का कौल दिया है।”¹³ अल हुजवीरी ने गैर-मुस्लिमों के विरुद्ध जिहाद की लड़ाई को भी बड़ा ऊँचा स्थान दिया। उनके अनुसार, “कोई भी सूफी, यहाँ तक कि सबसे पहुँचा हुआ सूफी भी मजहबी कानून (शरीयत) के पालन के कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता”¹⁴, कि “जो रहस्यवादी रास्ते पर चलने के नाम पर शरीयत की उपेक्षा करे वह इस्लाम से भटकाव”¹⁵ है, कि “शरीयत का पालन किए बगैर हकीकत को कायम नहीं रखा जा सकता। दोनों के आपसी सम्बन्ध शरीर और रूह जैसे हैं।”¹⁶ शेख अबू मुहम्मद अल-तुस्तारी ने “बहुदेववाद” को इस्लाम की अस्वीकृति¹⁷ और इसलिए अपराध माना था। ऐसे विचार बार-बार अनेक बड़े-बड़े सूफियों द्वारा स्वयं व्यक्त किए गए हैं। इस प्रकार, सूफीवाद का मूल विश्वास इस्लाम के अधीन है।

अतः सूफी मत को किसी इस्लामेतर मत से समन्वय के रूप में देखना नितान्त दोषपूर्ण है। जबकि इसके बारे में ठीक यही बातसमन्वय और सहिष्णुताभारत में प्रचलित की गई है। बल्कि सूफीवाद का केंद्रीय महत्त्व ही इसी में बताया जाता है। जो भ्रम यहाँ फैले हुए हैं, उसका एक रूप और है। सूफीवाद को इस्लाम का एक तरीका मानने वाले भी इसमें तरह-तरह के मनोहारी विचार भर देते हैं, जिनका वास्तविक सूफी मत, इतिहास और व्यवहार में कोई स्थान नहीं मिलता। ऐसे लोग मानो उपनिषद् के सारे ज्ञान और भगवान बुद्ध के विचारों को भी कुरान और हदीस में मिलता बता देते हैं। इस तरह, समन्वयवादी और इस्लामी दोनों ही रूपों में सूफीवाद के बारे में भारत में कई मिथ्या धारणाएँ ही सर्वाधिक प्रचारित हुई हैं।

सूफीवाद को इस्लाम का मूल तत्त्व बताना भी सत्य-संगत नहीं है। यदि भारत में कुछ लोग सूफीवाद को किसी उच्च दर्शन और ईश्वर से सीधे साक्षात्कार के रहस्य मार्ग के रूप में दिखाते हैं तो यह अज्ञान से लेकर धूर्तता तक कई कारणों से होता है। इसका एक संकेत तो इसी से मिलता है कि ऐसी बातों का प्रचार-प्रसार सदैव गैर-मुस्लिम देशों में होता है। क्या यह विचित्र नहीं कि इस्लामी वर्चस्व वाले दर्जनों देशों में, जहाँ इस्लामी अध्ययन, शिक्षण की पूरी परम्परा और बड़े विस्तृत इल्मी मरकज, मदरसे हों वहाँ कोई सूफीवाद के बारे में वैसी मनोहारी बातें न कहे, जो भारत जैसे देश में कही जाती है?

उदाहरण के लिए, सादिया देहलवी ने अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक *सूफीज्म: द हर्ट ऑफ़ इस्लाम* में यही सब कहने की कोशिश की है। यह लगभग एक नियम है कि किसी विषय पर मुस्लिम विद्वानों द्वारा गैर-मुस्लिम देशों में एक बात कही जाती है, और मुस्लिम देशों में दूसरी बात। चाहे विषय धर्म, दर्शन, राजनीति, इतिहास, कुछ भी क्यों न हो। यह इस्लाम के राजनीति से अभिन्न सम्बन्ध (*दीन-व-दौला*) के कारण होता है। सूफीवाद की चर्चा भी यह दोहरा रूप रखती है। यह इस्लाम के प्रति गैर-मुस्लिमों को भरमाने के उद्देश्य से होता है (यदि प्रस्तुतकर्ता किसी उदार गैर-इस्लामी समाज में रहते-रहते इस्लाम के प्रति स्वयं भ्रमित न हो तो)। सादिया को ही लें। उनके अनुसार, “इस्लाम धैर्य, प्रेम, कला और सहिष्णुता से सम्बन्धित है”।¹⁸ वह ऐसी ही बहुत सी मधुर बातें कहती हैं। जबकि इस्लाम की मोटी जानकारी रखने वाला भी जानता है कि नृत्य, संगीत, चित्र आदि पूरी कला ही इस्लाम में निषिद्ध है। उसे ‘कुफ़्र’ कहा गया है। भारत में भी असंख्य मदरसों में वर्णमाला पढ़ाते हुए ही मुस्लिम बच्चों को कला के प्रति इस्लामी आदेश से आगाह कराया जाता है। उदाहरणार्थ, पश्चिम बंगाल में बरुआ रहमानी अहले हदीस एजुकेशन सोसाइटी के तमाम मदरसों में वर्णमाला की पुस्तक में ‘ढ’ अक्षर के लिए प्रयोग रूप में यह वाक्य है: “ढोल ताबला ए खोदार लानत” यानी ढोल और तबले पर खुदा की लानत है!¹⁹

तो क्या यह मदरसे गलत हैं और सादिया देहलवी सही हैं? जी नहीं। इस्लाम के बारे में मदरसे सही शिक्षा दे रहे हैं। पूरे अरब विश्व पर नजर दौड़ाएँ। वह संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि सभी कलाओं में लगभग कोरा है। वहाँ संगीत या फिल्म-उद्योग नाम की चीज ही नहीं। क्योंकि चित्र बनाना, चित्र खींचना ही गुनाह है! हदीसों में इसके अनेक निर्देश हैं। इसीलिए वर्तमान में भी अयातुल्ला खुमैनी से लेकर देवबन्द तक, अनेक आधिकारिक उलेमा नृत्य, संगीत, चित्र, फिल्म आदि कला के सभी रूपों के प्रति कठोर फतवे भी देते रहे हैं। हाल में इस्लामाबाद की प्रसिद्ध लाल मस्जिद के मौलाना अब्दुल अजीज ने पाकिस्तानी युवाओं को धमकाया था कि “जो लोग नाच-गाना पसन्द करते हैं, वे भारत चले जाएँ”, क्योंकि यदि पाकिस्तान में रहना हो तो “शरियत या शहादत” में से एक चुनना पड़ेगा। भारत में भी दारुल उलूम, देवबन्द

के विचार ऐसे ही हैं। यह विश्व का दूसरा सबसे बड़ा इस्लामी इल्म केन्द्र कहा जाता है। इसलिए इसके निर्देश का सैद्धांतिक महत्त्व गम्भीरता से लेना चाहिए। इसके रेसिडेन्ट मुफ्ती ने दो वर्ष पहले फतवा दिया था कि “अपने पास की सभी तस्वीरें जला दो। दूसरों के पास भी जो तस्वीरें हैं, उन्हें भी लेकर जला दो”। हाल में देवबन्द के ही मुफ्ती मोहतामिम फजलुर्रहमान हिलाल उस्मानी ने संगीत के खिलाफ भी फतवा जारी किया। उनके अनुसार, “संगीत की इस्लाम में कोई गुँजाइश नहीं है”। यह ठीक कह रहे हैं। सादिया गलत लिख रही हैं। या तो वह हिन्दू विचारों से इतनी प्रभावित हैं कि इस्लाम से उसके घाल-मेल का लोभ संवरण नहीं कर पा रहीं; अथवा, भारत की स्थिति में इस्लाम के प्रति लोगों को नरम बनाने के लिए कालिदास का सौन्दर्य कुरान में दिखाना चाहती हैं।

वास्तव में, कला के प्रति इस्लामी आदेश निषेध का ही है। उसका कहीं पालन न होना या पूरी तरह न होना, सिनेमा, टी.वी. स्टूडियो, थिएटर आदि चलना या प्रतिबन्धित रहना इस्लामी शक्तियों के पर्याप्त बलशाली होने, न होने से सम्बन्धित है। अफगानिस्तान में तालिबानी शासन में अथवा उसके प्रभाव के पाकिस्तानी क्षेत्रों में भी इसीलिए टेलीविजन, सीडी, कैसेट, सैलून आदि जला दिए गए थे; पाकिस्तान और ईरान में भी समय-समय पर जलाए जाते हैं। पर तालिबान शासन को किसी आधिकारिक इस्लामी संस्थान ने ‘गैर-इस्लामी’ नहीं कहा। कुछ कहा गया तो यही कि वह ‘सबसे सच्चा इस्लामी’ था। अतः मुहम्मद रफी, बेगम अख्तर या सलमान खान निश्चित रूप से गैर-इस्लामी कार्य करते रहे हैं, यह बात नहीं झुठलाई जा सकती। हर आलिम इसकी तार्किक करेगा, चाहे साथ ही किन्तु-परन्तु करके अपनी बुद्धि से किसी हिन्दू जिज्ञासु को जिज्ञासा से विरत करने का प्रयत्न भी।

यह सच है कि ऐसी सूफी भी हुए, जो कुरान और हदीस के बन्धनों को नहीं मानते थे। जो बिना किसी मध्यस्थ, यानी पैगम्बर, के ईश्वर की लौ लगाते थे। ऐसे मुस्लिम रचनाकार और शासक भी हुए जो मानवतावाद और समानता को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए इस्लामी आदेशों की अधिक परवाह नहीं करते थे। जैसे, राबिया, बुल्लेशाह, गालिब, मीर या अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर। जफर खुद एक सूफी पीर माने जाते थे। वह वास्तव में उदार थे। महान शायर गालिब उनके दरबार में थे। मगर उलेमा जफर के सूफीवाद और मजहबी आदेशों के प्रति नरम रुख रखने के कारण उसके विरुद्ध थे। यहाँ तक कि उन्होंने एक बार जफर को मजहब-द्रोही कहकर बहिष्कृत करने की भी धमकी दी थी।

इस प्रकार, भारत में सात सौ वर्षों तक हिन्दू दर्शन, जन-जीवन के साथ रहने के बाद भी इस्लामी नेतृत्व का यह व्यवहार था! वे कुरान और सुन्ना से तनिक भी विचलन और अपने लोगों पर गैर-इस्लामी प्रभावों को बर्दाश्त करने के लिए तैयार न थे। तब यह मध्यकालीन भारत के ‘कम्पोजिट कल्चर’, मेल-जोल, सहिष्णुता, गंगा-जमुनी तहजीब आदि का गल्प किसके लिए, किस उद्देश्य से प्रचारित किया जाता है?

गालिब की रचनाएँ अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी इस्लामी बन्धनों से मुक्त थीं। बल्कि इसलिए भी वे महान हो सकीं। उनका प्रसिद्ध शेर “हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन...” केवल व्यंजना में नहीं लिखी गई थी। अपने किसी दूसरे शेर में उन्होंने काबा के बाद में भी लिखा है कि वह एक दिशा-सूचक होने से अधिक कुछ नहीं है। ऊपर दिल से अल्लाह को पाने की चर्चा में गालिब के विचार और भी गम्भीर दिशा में जाते हैं, (जिससे भी दिखता है कि आज सूफीवाद के प्रति कितनी भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं)। केवल हृदय से भगवान को पाने, सीधे ईश्वर से लौ लगाने की धारणा नितान्त हिन्दू धारणा है। इसका क्लासिक सूफीवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। जो सूफी या शायर ऐसा कहते रहे हैं, उन्हें उलेमा उचित ही खरिज करते थे। क्योंकि वैसे लोग समय के साथ अल्लाह की वैसी समझ का इस्लाम से विपरीत सम्बन्ध को समझे बिना नहीं रह सकते थे। गालिब एक बार बनारस जाकर गंगाजी के पास मग्न हो गए थे। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा जो चाहता है इस्लाम को अलविदा कहकर माथे पर तिलक लगा लूँ, जनेऊ धारण कर लूँ और यहीं बस जाऊँ। ताकि जीवन की अपवित्रताओं को धोकर इस नदी की एक बूँद की तरह इसका हो जाऊँ।²⁰

अर्थात् गालिब सचेत रूप से इस्लाम की कई बुनियादी मान्यताओं को खरिज करते थे। इस्लाम में एक मात्र उपलब्धि जन्नत ही है, जिसे गालिब हेय मानते थे। अपने मित्र को लिखे एक पत्र में गालिब ने इसे जोर देकर स्पष्ट किया है :

“ठीक है कि जन्नत में सुबह होते ही विशुद्ध मदिरा पी सकूँगा, जो कुरान में लिखा है। लेकिन वहाँ नशे में लड़खड़ाते दोस्तों के साथ रात की लम्बी सैर कहाँ मयस्सर होगी, या पीकर खुशी मनाने वाली भीड़ कहाँ होगी? बरसात के बादलों को देखकर मिलने वाला नशा वहाँ कहाँ मिलेगा? जहाँ पतझड़ न होती हो, वहाँ वसन्त का अस्तित्व ही कैसे होगा? यदि खूबसूरत हूँ वहाँ हर वक्त उपलब्ध रहती हूँ, तब विरह की उदासी और मिलन के सुख कहाँ होंगे? वहाँ ऐसी लड़की कहाँ होगी जो हमारे चूमने पर भाग जाएगी?”²¹

यह व्याख्या किसी सामान्य सहृदय पाठक को कितनी ही सहज क्यों न लगे, किसी इस्लामी आलिम के लिए बहुत नागरवार है। क्योंकि यह इस्लाम के एक मात्र ईनाम और सर्वोच्च वस्तुजन्नतको ही हेय ठहराता है। इसीलिए आधिकारिक इस्लामी परम्परा ऐसे कवियों, शायरों, सूफियों को तनिक भी बर्दाश्त नहीं करती। उन्हें ‘कुफ्र’ यानी इस्लामी शब्दावली में सबसे घृणित चीज से प्रभावित, इसलिए बुरी दृष्टि से देखा जाता है।

कुफ्र-प्रभावित होने की बात ठीक भी है, क्योंकि ऐसे मुस्लिम प्रायः केवल भारत में हुए जहाँ हिन्दू दर्शन और जीवन-पद्धति से उन्होंने सीखा। भारत से बाहर मुस्लिम जगत में ऐसे सूफी, कवि या शासक ढूँढना कठिन है। इसीलिए सूफीवाद की मनोहारी

दिखाई जाने वाली बातें वास्तव में हिन्दू बातें हैं जिनका सच्चा-झूठा क्षेपक करके भारत में सूफीवाद की विशिष्ट धारणा बनाई गई है। इसमें यह केंद्रीय बात गोल कर दी जाती है कि सचमुच के उदार सूफी या शायर सदैव शरीरियत से दूर हटकर ही हुए। जैसे, गालिब या मीर। और यह भी कि इस्लामी तारीख में ऐसे लोगों को कहीं महत्त्व नहीं दिया जाता। इन दो विन्दुओं को दरकिनार कर देने से सूफीवाद की पूरी चर्चा भ्रामक हो जाती है।

बुल्लेशाह जैसे केवल रहस्यवाद की बात करने और राजनीति से निरपेक्ष रहने वाले सूफी बहुत ही कम हुए हैं। और इस्लामी इतिहास में उन जैसों की कोई कद्र नहीं है। वहाँ केवल वैसे सूफी ही मान्य हैं, जिन्होंने केवल वेष बदला है, मूल इस्लामी विचारों को नहीं। जैसे, मोईनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरो, शेख चिराग (चिराग दिल्ली), शेख सरहिन्दी, शाह वलीउल्लाह, आदि। ऐसे ही सूफियों का झूठा-सच्चा चित्रण इस्लामी तारीख में मिलता है। मोईनुद्दीन या निजामुद्दीन जैसों के प्रति हिन्दू जनता के आदर को 'इस्लाम की श्रेष्ठता' के प्रमाण के रूप में लहराया जाता है, किसी समन्वयवादी, मिली-जुली संस्कृति के रूप में नहीं। यह कोई इक्के-दुक्के उलेमा ही नहीं करते। लगभग सम्पूर्ण मुस्लिम बौद्धिकता उसे इसी रूप में देखती है।

इसीलिए, मोईनुद्दीन की दरगाह पर हिन्दुओं का चाहे स्वागत हो; किन्तु किसी हिन्दू स्थल, हिन्दू सन्त के पास मुस्लिमों का जाना उन्हें सख्त नागवार लगता है। इसे सख्ती से रोका जाता है, जैसे हाल के वर्षों में स्वामी रामदेव के योग शिविरों में जाने से मुस्लिमों को रोका गया। मिली-जुली संस्कृति के गल्प में इस वास्तविकता पर ध्यान देना चाहिए कि इसे हमेशा एक-तरफा रखा गया है। हिन्दू मुस्लिम स्थानों पर आएँ, पर मुस्लिम हिन्दू स्थानों पर न जाएँ। सदियों से यह प्रवृत्ति यथावत रही है और ऐसा सचेत रूप में किया गया है। इसी प्रवृत्ति का रूप है कि सूफियों द्वारा सेक्यूलरिज्म के नाम पर बीजेपी से सावधान कराया जाए, किन्तु इंडियन मुजाहिदीन, जमाते इस्लामी या लश्करे तोयबा, सिमी आदि से नहीं। सूफी और इस्लामी राजनीति की यह सचेत क्रिया है, जिसे नजरअन्दाज कर सूफियों का गुण-गान करने वाले हमारा भारी अहित कर रहे हैं। वामपंथी लेखक तो जान-बूझ कर ऐसा करते हैं।

वैसे लेखक और प्रचारक सन्त कबीर को 'सबसे बड़ा सूफी' बताते²² हैं, चाहे सूफियों पर लिखे आधिकारिक इस्लामी ग्रन्थों में कबीर का उल्लेख शायद ही कहीं मिलता है। क्योंकि कबीर ने इस्लामी अन्धविश्वासों की खुली आलोचना की थी: 'कांकर पाथर जोड़ि के मस्जिद लियो बनाय, ता चढ़ मुल्ला बाँग दै क्या बहिरा हुआ खुदाय'। ऐसी सन्त-वाणियों की इस्लामी रणनीतिकारों को कोई जरूरत नहीं। इसीलिए, शरीरियत से तनिक भी विचलित होने वाले सूफियों को मुस्लिम इतिहास में कोई प्रतिष्ठा नहीं दी गई है। शायर अल्लामा इकबाल ने तो ऐसे सूफियों को 'इस्लाम के राजनीतिक पतन के दौर की उपज'²³ बताया था जब 'इस्लाम में आलस्य और

जड़ता' आ गई थी। इससे भी पुष्टि होती है कि दूसरे प्रकार के सूफी क्या होते थे (और जब इस्लाम में आलस्य और जड़ता नहीं होती, तो उसका अर्थ क्या होता है)! सूफियों के उलेमा से जो वैचारिक मतभेद रहे हों, शरीयत को सर्वोच्च मानने और हिन्दुओं को नीच या उपेक्षणीय समझने में वे प्रायः एक रहे हैं।

उदाहरण के लिए शेख निजामुद्दीन औलिया (1244-1325) और उनके पक्के शागिर्द अमीर खुसरो के विचारों का जायजा लिया जा सकता है। औलिया चिश्ती सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सूफी थे। किन्तु वे क्लासिक इस्लामी पंथ के सूफी थे जिनके लिए शरीयत सर्वोपरि था और गैर-मुस्लिम विचारों, प्रभावों के वे सख्त खिलाफ थे। दिल्ली सल्तनत के सुलतानों से उनका अच्छा सम्बन्ध था और वे काफिरों पर 'इस्लाम की सेना' की जीत के लिए दुआएँ करते थे। उन सेनाओं द्वारा हिन्दुओं को मार कर, लूट कर लाए गए धन का उपहार सुलतानों से लेने में उन्हें कोई संकोच न होता था। एक बार अल्लाउद्दीन खिलजी को दक्षिण विजय के लिए भेजी गई अपनी सेना की कोई खबर बहुत दिन तक नहीं मिली तो उसने निजामुद्दीन औलिया से पुछवाया कि उन्हें कुछ पता है कि 'इस्लाम की सेना' किस हाल में है। औलिया ने उनके संदेशवाहक को सन्तुष्ट करते हुए दिलासा दिया कि वे आगे भी बड़ी जीतों की उम्मीद कर रहे हैं।²⁴ जहाँ तक औलिया के दार्शनिक, आध्यात्मिक या सन्त जैसे गुणों की बात है तो गहराई से परखने पर कुछ नहीं मिलता! पसिद्ध इतिहासकार के. ए. निजामी ने उनकी बड़ी जीवनी लिखी है। उसमें लिखे वर्णनों से औलिया की एक साधारण छवि बनती है।

उदाहरण के लिए, ऐसे वर्णनों से क्या अर्थ निकलता है कि अलौ और फलौ सुलतान ने निजामुद्दीन औलिया की कद्र नहीं की तो औलिया ने उनकी मृत्यु कामना की, और वे दोनों सुलतान अकाल मौत को प्राप्त हुए।²⁵ सामान्य विवेक, विशेषकर हिन्दू दृष्टि से तो ऐसे व्यक्ति को अहंकारी और निम्न भावना का ही कहा जाएगा। किन्तु निजामी की पुस्तक ऐसे ही प्रसंगों से भरी है जिससे औलिया की कोई आध्यात्मिक, दार्शनिक विशेषता या सिद्धि का प्रमाण नहीं मिलता। एक अन्य प्रसंग में औलिया कहते हैं कि उलेमा का हुक्म बिना ना-नुच के मानना चाहिए, यही व्यक्ति के प्रेम का प्रमाण होगा। इससे उसे लाभ यह होगा कि "उसके पाप उसके कर्मों की किताब में नहीं लिखे जाएंगे"।²⁶ एक तरह से यह किसी पापी को प्रलोभन है कि वह पाप करते रहने का सुख उठा सकता है, बशर्ते उलेमा का हुक्म मानता रहे। जैसे किसी अपराधी को कहा जाए कि फलां की बात मानते चलो तो कितना भी अपराध करने पर तुम्हारे खिलाफ कार्रवाई नहीं होगी। यह कैसी सन्त-वाणी है। पर हिन्दू दृष्टि से ही इसे बुरा कहा जा सकता है। सेमेटिक मजहबों में नहीं, जहाँ व्यक्ति का आचार नहीं, उसका मजहब में विश्वास, फ़ैथ, ही केन्द्रीय तत्त्व है। उस दृष्टि से औलिया सामान्य बात ही कह रहे थे।

हिन्दुओं के प्रति निजामुद्दीन औलिया का रुख खुली घृणा नहीं तो उन्हें नीचा समझने की उपेक्षा का अवश्य था। उन्होंने स्वयं कहा था कि 'उलेमा जो कार्य अपने विचारों से करते हैं, वही हम अपने व्यवहार से'। के. ए. निजामी की पुस्तक से भी इसकी पृष्टि होती है। इसमें "रिलेशंस विथ नॉन-मुस्लिम्स" शीर्षक एक छः पृष्ठों का संक्षिप्त अध्याय है। यह संक्षिप्ता स्वयं प्रमाण है कि खोजने पर भी इतिहासकार को औलिया द्वारा गैर-मुस्लिमों के प्रति अच्छा कहा कुछ न मिला। किंवदन्ती भी नहीं, जिससे पूरी पुस्तक भरी है। इस अध्याय के आरम्भ में एक प्रसंग है कि एक दिन औलिया छत पर खड़े यमुना की ओर देख रहे थे। वहाँ हिन्दू श्रद्धालू स्नान, पूजा आदि कर रहे थे। तब औलिया ने फारसी में कहा, "हर लोगों का अपना मजहब होता है और इबादत की जगह होती है।"²⁷ उस समय औलिया के साथ उनके परम भक्त शायर अमीर खुसरो भी खड़े थे। यह सुनकर उन्होंने उसी तुक में दूसरी पंक्ति जोड़ दी, "मैंने अपना किबला तिरछी टोपी वाले की तरफ कर लिया है।" यहाँ तिरछी टोपी वाले से अर्थ निजामुद्दीन औलिया से है। यह दोनों पंक्तियों हिन्दुओं के प्रति सकारात्मक भाव रखने का कोई स्पष्ट संकेत भी नहीं देती, खुल कर कुछ मानना तो दूर की बात।

पर उन दो पंक्ति को उद्धृत करने के बाद इतिहासकार निजामी ने अपनी तरफ से पूरा पाराग्राफ घोषित कर दिया है कि कैसे उस पंक्ति से दिखता है कि मध्यकालीन भारत की संस्कृति सहिष्णुता और विभिन्न धर्मों के सहअस्तित्व की थी। गैर-मुस्लिमों के प्रति निजामुद्दीन औलिया के सकारात्मक रुख पर किसी तरह खींच-तान कर कुछ जोड़ने की कोशिश तब और स्पष्ट हो जाती है जब उसके बाद इतिहासकार औलिया को छोड़ अमीर खुसरो के वैसे ही अस्पष्ट कुछ और विचारों को उद्धृत करते हैं। उसके बाद, उसे खुसरो के बदले औलिया के सहनशील, समन्वयकारी होने के प्रमाण के रूप में पेश कर देते हैं।²⁸ आगे औलिया द्वारा वर्णित तीन सांकेतिक छोटी-छोटी कहानी दी गई हैं जो कभी उन्होंने मिलने वालों के सामने कही थी। उनसे भी स्वयं कोई अर्थ नहीं निकलता कि वे गैर-मुस्लिमों के प्रति दयालु थे। बल्कि एक कहानी से तो कुछ उलटा ही दिखता है। औलिया द्वारा कही गई वह कहानी इस प्रकार है, "ख्वाजा हमीदुद्दीन नागौरी ने तो एक बार किसी हिन्दू को 'वली' तक कह दिया। ऐसा इसलिए कि केवल अल्लाह ही जानता है कि किसी आदमी का अन्त क्या होगा। इसलिए किसी को किसी के बारे में निर्णय नहीं देना चाहिए।" कथन की पहली पंक्ति तो यही संकेत करनी है कि तब हिन्दू को वली (सन्त) कह देना अत्यन्त अस्वाभाविक बात थी। इससे बेचारों की स्थिति का पता चलता है। दूसरे, औलिया उस कथन का बचाव जिस तरह से कर रहे हैं वह इसकी पुष्टि करता है कि हिन्दू अभी वली नहीं हो सकता। मगर बाद में, कौन जाने...। प्रसंग से उनकी यह आशा झलकती है कि वह हिन्दू बाद में मुसलमान बन जा सकता है।

जो भी हो, पूरी पुस्तक के मात्र संक्षिप्त छः पन्नों में यदि औलिया के गैर-मुस्लिमों के प्रति सम्बन्ध के बारे में बस यही कुछ गोल-मोल है तो साफ है कि बात कुछ छिपाने या बनाने की ही है। क्योंकि फुवैद अल-फौद में गैर-मुस्लिमों के बारे में औलिया के स्पष्ट विचार कुछ इस तरह उद्धृत किए गए मिलते हैं, “काफिरों को मरते वक्त सजा मिलेगी। तब वे मुस्लिम बनने की कोशिश करेंगे, लेकिन इसे उनके विश्वास के रूप में नहीं माना जाएगा....मरते वक्त किसी का (इस्लाम पर) विश्वास कबूल करना स्वीकार नहीं किया जा सकता।”²⁹

अमीर खुसरो के विचार भी उसी तरह परखने योग्य हैं। निजामुद्दीन औलिया के समर्पित शार्गिद होने के साथ-साथ स्वयं सूफी शायर के रूप में उनकी बड़ी ख्याति है। आज के भारतीय उच्च वर्ग में तो खुसरो को सूफीवाद और कथित ‘गंगा-जमुनी संस्कृति’ का सबसे फैशनेबल प्रतीक³⁰ माना जाता है। इस वर्ग को पता नहीं या इसके लिए यह अर्थहीन है कि खुसरो को गहरा मलाल था कि भारत से हिन्दुत्व को खत्म नहीं किया जा सकता। कि हिन्दुओं को जजिया टैक्स देकर जान बचा सकते की अनुमति दे देने के कारण ही इस देश को सदा के लिए दारुल इस्लाम बनाने का मौका हाथ से निकल गया। अमीर खुसरो के अपने शब्दों में :

“हमारे मजहबी योद्धाओं की तलवार के बल पर यह पूरा देश (भारत) ऐसा बन गया जैसे आग जंगल को काँटों से रहित कर देती है। यह धरती तलवार के पानी से सिक्त हो गई और कुफ्र (हिन्दुत्व) की भाप छिन्न-भिन्न हो गई। हिन्द के शक्तिशाली लोग पाँव के नीचे कुचल डाले गए...यदि कानून ने व्यक्ति-कर। (जजिया) देकर जान बचाने की मन्जूरी न दी होती, तो हिन्द का नाम, जड़-मूल समेत, मिट गया होता।”³¹

समझना कठिन है कि ऐसे सूफी शायर को किस बुद्धि से हिन्दू-मुस्लिम मेल-जोल और गंगा-जमुनी संस्कृति का प्रतीक कहा जाता है। तो किसी सूफी द्वारा जजिया की आलोचना मिलती भी है तो इसी रूप में! अन्यथा पूरे इतिहास में किसी सूफी मुस्लिम ने हिन्दुओं पर जजिया-टैक्स लगाने का विरोध नहीं किया। किसी सूफी ने दिल्ली सल्तनत के सुलतानों और मुगल बादशाहों को हिन्दू मन्दिर तोड़ने से मना नहीं किया था।

सूफियों के नृत्य, संगीत पर तो सबसे अधिक प्रशंसा के पुल बाँधे गए हैं। किन्तु निजामुद्दीन औलिया ने यह पूछे जाने पर कि अल्लाह का नाम लेते हुए क्या नृत्य करना या बाँसुरी या हारमोनियम आदि बजाने की अनुमति है? उन्होंने दो टूक उत्तर दिया, “जिसकी कानून (शरीयत) में मनाही है, उसे स्वीकृति नहीं दी जा सकती।”³²

अन्य प्रसिद्ध सूफी शेख नसीरुद्दीन चिराग (चिराग दिल्ली के रूप में मशहूर) भी इसी श्रेणी में थे। उनके अनुसार हर कार्य की अनुशंसा कुरान और सुन्ना से होनी चाहिए। अन्यथा वह प्रतिबन्धित है, “जो भी अल्लाह और उसके रसूल ने हुक्म दिया

है तुम वह पूरा करो, और जो भी अल्लाह और उसके रसूल ने मना किया है वह तुम कभी न करो”। इसीलिए उन्होंने भी अपने यहाँ श्रद्धालुओं द्वारा झुककर अभिवादन करने, दिए जलाने, संगीत आदि को प्रतिबन्धित कर दिया था। वे मजारों पर जाने के भी विरुद्ध थे। इतिहासकार के.ए. निजामी द्वारा लिखित उनकी जीवनी में उल्लेख है कि शेख चिराग ने सूफियों के बीच प्रचलित सभी हिन्दू प्रभावों को दूर किया और उनके विचारों, कामों को शरीयत के अनुरूप बनाने का प्रयास किया।³³

महमूद गजनवी से लेकर औरंगजेब तक, सदियों में, किसी सूफी का जिक्र नहीं मिलता जिसने हिन्दुओं के प्रति उनकी किसी क्रूरता का विरोध किया हो। उल्टे कई सूफी उसके लिए सलतनत और मुगल बादशाहों से इसरार करते थे। जैसे, शेख सरहिन्दी जो सूफियों के नक्शबंदी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। उन्होंने सूफी शेख फरीद को एक पत्र में लिखा था कि काफिरों को अपमानित करना इस्लाम की शान के लिए जरूरी है। कई नामी सूफियों ने विदेशी मुस्लिमों को भारत पर हमले का न्योता दिया। यह सूफी शाह वलीउल्ला (1703-1762) ही थे जिन्होंने अफगानिस्तान के अहमद शाह अब्दाली को मराठाओं पर हमला करने के लिए बुलाया था, ताकि यहाँ इस्लामी राज फिर कायम किया जा सके। यही पानीपत की तीसरी लड़ाई थी।

शाह वलीउल्लाह की ख्याति पूरे इतिहास में भारत के सबसे बड़े इस्लामी आलिम के रूप में है। वे अरब के प्रसिद्ध इब्न अब्दुल बहाव के समकालीन थे। बल्कि दोनों ने मदीना के हिजाज में एक ही समय इस्लाम का अध्ययन किया था। दोनों ही इस्लाम के बड़े सुधारक माने गए। वैसे, इस्लाम में सुधार का अर्थ हमेशा ‘मूल इस्लाम की ओर लौटना’ यानी कट्टरपंथ को बढ़ावा होता है। वलीउल्लाह और अब्दुल बहाव इसके अपवाद नहीं थे। अब्दुल बहाव ने अरब में इस्लामी शुद्धता का अभियान चलाया। उसी ‘बहावी’ आन्दोलन के आधुनिक अनुयायी अल कायदा समेत अधिकांश कट्टरपंथी संगठन हैं। शाह वलीउल्लाह के विचार अब्दुल बहाव से काफी मिलते जुलते थे। उन्होंने भी भारत आने के बाद इस्लाम में आ गए विचलन, विजातीय प्रभावों और विकृतियों के खिलाफ जिहाद छेड़ दिया।³⁴

शाह वलीउल्लाह और बाद में उनके बेटे शाह अब्दुल अजीज ने सूफियाँ द्वारा हिन्दू प्रभावों को ग्रहण करने का जबर्दस्त विरोध किया। जैसे, सन्तों के प्रति श्रद्धा जिसे वे मूर्तिपूजा जैसा मानकर घृणित समझते थे, हिन्दुओं के पवित्र स्थलों का आदर और वहाँ की तीर्थयात्रा, हिन्दू ज्योतिषियों से मिलना जुलना, स्त्रियों द्वारा नाक-छेदन कराना, मजारों पर दिए जलाना, तीर्थ स्थलों पर भक्ति संगीत तथा हिन्दू त्योहार मनाना। मुसलमानों द्वारा यह सब करना हिन्दुओं की संगति से आया हुआ कुफ्र था, जिसका शाह वलीउल्लाह ने कड़ा विरोध किया था।³⁵ यहाँ तक कि केले के पत्ते पर खाना भी उन्हें नागवार था।

वलीउल्लाह चाहते थे कि मुस्लिम समाज हर चीज में कुरान का अनुकरण करे। इसलिए उन्होंने कुरान का फारसी में तथा बाद में उनके बेटे ने उर्दू में अनुवाद किया, ताकि मुसलमान जान सकें कि उनसे मजहब की क्या अपेक्षाएँ हैं और वे हिन्दू प्रभावों से नितांत मुक्त हों। शाह वलीउल्लाह ने मुगल बादशाहों को हिन्दू स्त्रियों से विवाह करना भी अनुचित माना, जो इस्लाम में धर्मांतरित करा दिए जाने के बाद भी तरह-तरह की हिन्दू रीतियों का पालन करती रहती थीं। उन प्रभावों से भी कई मुगल महलों के रस्मो-रिवाज में धीरे-धीरे हिन्दू प्रभाव छनकर आते रहे थे। उन प्रभावों से भी कई मुगल शासक और अधिकारी उदारवादी सूफियों, शायरों का आदर-सत्कार करने लगे थे। वलीउल्लाह के अनुसार यह सब लगभग कुफ्र और इस्लाम को भ्रष्ट करने जैसा था।

अल्लाह की इबादत मुसलमान क्यों करे, इसकी व्याख्या में भी वलीउल्लाह ने हिन्दू प्रभावों को छोड़ने का आह्वान किया। कुछ सूफियों और मुस्लिम कवियों ने अल्लाह को प्रेम से जोड़कर देखा था। उन्होंने कहाँ कि हम अल्लाह की इबादत इसलिए करते हैं कि वह हमें प्रेम करता है। वलीउल्लाह के अनुसार यह गैर-इस्लामी धारणा है, जिससे हर प्रकार के पूजा-पाठ को स्वीकृति मिल जाती है। क्योंकि यदि अल्लाह प्रेमी और दयालु है तब जो व्यक्ति उसे प्रेमपूर्वक, जैसे भी स्मरण करे, वह स्वीकार्य हो जाएगा। यदि अल्लाह का सम्बन्ध उसके प्रति दिली मुहब्बत से है, तब तो वह किसी हिन्दू पर भी कृपालु होगा! तब इस्लाम के कलमे का, अल्लाह के रसूल काइनकी अनिवार्यता काक्या बचेगा। इसलिए वह सरासर गलत है। सही इस्लामी धारणा यह है कि अल्लाह ने अपने रसूल के माध्यम से हमें इबादत का और रसूल का हर हुक्म मानने का हुक्म दिया है। अतः प्रेम नहीं, हुक्म।

इस्लामी आक्रान्ताओं को भारत न्योतने की सूफी परम्परा यहाँ हाल तक चलती रही है। उन्हीं वलीउल्लाह के पोते शाह इस्माइल और उनके संगी सैयद अहमद बरेलवी ने सिखों के खिलाफ जिहाद करने के लिए पख्तून सरदार अखुंद गफूर और दोस्त मुहम्मद खान को बुलाया था। अखुन्द गफूर खुद सूफी माना जाता था। सैयद अहमद बरेलवी ने 1830 में सिखों और अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद का आह्वान किया था। मद्रसा रहीमिया से उन्होंने मध्य एशिया के मुस्लिम शासकों को चिट्ठी भेजकर 'भारत को अंग्रेजों से मुक्त कराने का न्योता भेजा था जो 'इस्लामी संस्कृति को भ्रष्ट कर रहे थे'। अगले वर्ष बरेलवी मारे गए किन्तु उनके जिहादी दस्तों के बचे-खुचे अवशेष पेशावर, अम्बाला, दिल्ली, पटना और दूसरे स्थानों पर भूमिगत रूप से काम करते रहे।³⁶ बीसवीं सदी में भी यहाँ के कुछ आलिमों ने अफगानों को भारत पर हमले के लिए बुलाया था। खलीफत जिहाद (1919-24) के दौर में भारतीय राजनीति में इस पर चर्चा थी। अफगानों को भारत पर आक्रमण के लिए बुलाए जाने और उन्हें भारतीय मुस्लिम नेताओं के समर्थन के सम्बन्ध में एनी बेसेन्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि ने भी चिन्ता व्यक्त की थी।

क्या सूफी राजनीति की वह अदाएँ आज खत्म हो गई हैं, या उसने केवल भेष बदला है? लोकसभा चुनाव में 'सेक्यूलर' राजनीति को मदद पहुँचाने के घोषित उद्देश्य से निकली इस सूफी-सन्त यात्रा से यह प्रश्न अवश्य पूछा जाना चाहिए था। यदि नहीं पूछा गया तो मुख्यतः इस कारण कि हमारे आम पत्रकारों को, जैसे कि प्रायः पूरे शिक्षित समाज को, सूफी मत के इतिहास, दर्शन और भूमिका के बारे में सच्चाई मालूम नहीं है। वैसे, सूफीवाद के बारे में संकीर्ण या दोषपूर्ण प्रचार विविध कारणों से है। उनमें एक कारण कूटनीति भी है।

3

हिन्दुओं ने मुस्लिम सूफी सन्तों को उतना आदर दिया है जितना मुस्लिम समाज ने नहीं। अजमेर में मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह में हिन्दू दर्शनार्थियों की भीड़ और चढ़ावा सदैव अधिक होता है। वे इस बात से अनजान हैं कि वास्तव में वे सूफी-सन्त क्या थे। बहुतां के लिए इसका कोई अर्थ नहीं। यह तब तक कोई बड़ी बात नहीं जब तक भारत की जनसांख्यिकी यथावत रहती है। किन्तु देश में इस्लामी मतावलम्बियों का प्रतिशत बढ़ने के साथ-साथ एक घातक परिणाम अनिवार्यतः छिपा है, जिसे अच्छे-से-अच्छे मुस्लिम सदाशयी भी नहीं रोक सकते। पाकिस्तान और बंगलादेश ही नहीं, देश के अन्दर भी असम, पश्चिम बंगाल आदि का उदाहरण शिक्षाप्रद है। यही चीज दूर लेबनान या इंडोनेशिया, मलेशिया आदि में भी देखी जा सकती है। इन सम्भावनाओं की दृष्टि से भारतीय उच्च वर्ग में सूफियों के प्रति अज्ञानपूर्ण श्रद्धा चिन्ताजनक हो जाती है।

यदि सादिया जैसी मुस्लिम लेखिका सूफीवाद को नितान्त एकांगी रूप से दिखाती हैं अथवा इस्लाम को विजातीय, 'काफिराना' चीजों जैसे कला से सम्बन्धित बताती हैं तो ऐसा करने के अलग-अलग कारण हो सकते हैं। इसमें एक यह भी कि एक गैर-इस्लामी देश में ऐसा कहना इस्लाम के सम्भावित प्रभुत्व की रणनीति के लिए उपयोगी है। (ठीक उसी तरह जैसे जमाते-इस्लामी जैसे संगठन और मुस्लिम नेता भारत में सेक्यूलरिज्म की झण्डाबरदारी करते हैं जो सिद्धान्तः इस्लाम-विरुद्ध होते हुए भी भारत में इस्लाम के दबदबे का औजार है)। एक ओर शरीयत, जिहाद समेत इस्लाम के सभी मूल तत्त्वों का बचाव करना तथा दूसरी ओर सूफीवाद को इस्लाम का दिल बताकर इसमें तरह-तरह की मनमोहक चीजें दिखाना अन्तर्विरोधी कार्य लग सकता है। जैसा सादिया देहलवी कर रही हैं।

यह इस्लामी रणनीति की अल तकिया तकनीक³⁷ का हिस्सा है। शरीयत में ही यह कहा गया है 'जरूरत पड़ने पर वर्जित काम भी किए जा सकते हैं'। वैसे भी, राजनीति के अनुभवी होने के कारण उलेमा इस तरकीब का उपयोग जानते हैं कि किसी दारुल हर्ब, यानी गैर-मुस्लिम देश में मुसलमान ऐसे कार्य कर सकता है जो

इस्लाम के अनुरूप न हों, किन्तु अंततः उसे दारुल इस्लाम, यानी इस्लामी देश बनाने में उपयोगी हो सके। इस रूप में, भारत में सूफीवाद के बारे में सच के बदले हिन्दुओं को लुभाने वाली बातें कहना 'काफिरों' को इस्लाम के प्रति अचेत बनाकर उन्हें, मुग्ध-मुद्रा में लाता है। ताकि जब तक इस्लामी शक्तियाँ पर्याप्त बल संचित न कर लें, और इस्लामी निजाम कायम करने की ताकत न जुटा लें तब तक भ्रम में डूबे काफिर संगठित न हों। यह कोई दूर की कौड़ी नहीं है। इसे स्वयं सादिया कि किताब की सबसे आधिकारिक इस्लामी ग्रन्थों और ऊपर वर्णित सबसे बड़े और प्रसिद्ध सूफियों के विचारों से तुलना करके समझा सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यहाँ देवबंद तथा अरब देशों की सैकड़ों बड़ी-बड़ी इस्लामी हस्तियों, आलिमों, उलेमा और संस्थानों को इस्लाम से कला के संबंध के बारे में वह बात पता न हो जो दिल्ली में बैठी सादिया को है।

निस्संदेह सूफीवाद के कई रूप हैं। किन्तु जिस रूप में उसकी भारत और पश्चिमी विद्वत जगत में मान्यता है, उसमें उदार हिन्दू आचार-विचार को ही सूफीवाद कह दिया जाता रहा है। इसमें दोहरी हानि है। एक, हिन्दू धर्म को उस का श्रेय न देना; दूसरे, इस्लाम के बारे में भ्रामक मान्यताओं को प्रोत्साहन। कुछ लोग जानबूझ कर ऐसा करते हैं, इस खयाल से कि ऐसा कर वे इस्लामी मनोवृत्ति को समन्वयकारी बना सकेंगे। ऐसे लोगों को कुरान, हदीस, मुहम्मद की जीवनी, इस्लाम का इतिहास, पाकिस्तान आंदोलन और इस सबके प्रति गाँधीवादी नीति का गंभीरता पूर्वक अध्ययन व मूल्यांकन स्वयं करना चाहिए। अन्यथा वे देश की और अपनी भी हानि करते रहेंगे।

संदर्भ-टिप्पणियाँ

1. टाइम्स ऑफ इंडिया, 17 अप्रैल 2009
2. पटना, 13 अप्रैल, 2009, आई.ए.एन.एस. की रिपोर्ट।
3. उदाहरण के लिए देखें, "वक्त की लय के साथ" और "चमत्कारी असर", इंडिया टुडे नई दिल्ली, 27 मार्च, 2002। इनमें सूफी विचार, परंपरा आदि के बारे में एक से एक बातें कही गई हैं। बिना किसी साक्ष्य या संदर्भ के कि किन सूफी स्रोतों में वे मनमोहक बातें मिली हैं।
4. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, *सूफीज ऑफ बीजापुर, 1300-1700; सोशल रोल ऑफ सूफीज इन मेडियेवल इंडिया* (न्यू जर्सी: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978), पृ 32
5. हैदराबाद की आफिया लाइब्रेरी में उपलब्ध, *तजकिरा* संख्या 266
6. अब्दुल जब्बार मल्कापुरी, *तजकिरा-ए-औलिया-ए-दकन* (हैदराबाद : हसल प्रेस, 1912-13), खंड 1 पृ.460 और आगे
7. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, ऊपर संदर्भ सं. 3, पृ.1941

8. उदाहरण के लिए देखें, <http://www.mustafai.com/Personalities/garibnawaz/Defeat.htm>
9. एस. ए. ए. रिजवी, *ए हिस्ट्री ऑफ सूफीज्म इन इंडिया, वॉल्यूम-1*, (नई दिल्ली: मुंशीराम मनोहरलाल, 1978), पृ. 116
10. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, उपर्युक्त, पृ.19
11. वही, पृ. 33
12. *कश्फ-अल-महजूब*, (दिल्ली: ताज कंपनी, 1982), पृ. 140
13. वही, पृ. 152, 213
14. वही, पृ. xxi
15. वही, पृ. 14
16. वही, पृ. 383
17. वही, पृ. 139
18. “द न्यू सूफी बार्ड”, द पायोनियर, नई दिल्ली, 5 मई, 2009 में उद्धृत।
19. इंडिया टुडे, नई दिल्ली, 25 जून, 2001
20. पवन कुमार वर्मा, *गालिब: द मैन*, टाइम्स (नई दिल्ली, 1989), पृ.51 डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (नई दिल्ली: पेंग्विन, 2006), पृ. 80 पर उद्धृत।
21. रैल्फ रसेल (सं), *गालिब: द पोएट एंड हिज एज* (लंदन, 1975), पृ. 81. डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (नई दिल्ली: पेंग्विन, 2006), पृ. 80 पर उद्धृत।
22. दीपा एम. ओल्लापल्ली, *द पॉलिटिक्स ऑफ एक्सट्रीमिज्म इन साउथ एशिया* (दिल्ली: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 2009), पृ. 32. जिस संदर्भ में वे इसे याद करते हैं वही उनका उद्देश्य स्पष्ट कर देता है कि साउथ एशिया (पाकिस्तान या अफगानिस्तान नहीं) के उग्रवाद (आतंकवाद या जिहाद नहीं) में इस्लाम को कोई कारक या बड़ा कारक बिलकुल न समझा जाए। यह तो हमेशा सूफियों, गंगा-जमुनी तहजीबों और प्यार-मुहब्बत की जमीन रही है। इस्लामी उग्रवाद की बात करना गलत तरीके से स्थिति को देखना है। यह पुस्तक इसका उदाहरण है। आरंभ में ही जिस तरह सूफीवाद की अप्रासंगिक चर्चा विस्तार है और शरीयत की चर्चा पूरी पुस्तक में सिरे से गायब है, उससे मंतव्य स्पष्ट होता है। पुराने समय के अनाम किस्म के किसी मुस्लिम संत की प्रशंसा और हाल के सावरकर, गोलवलकर जैसों की खिंचाई भी वही संकेत है। साथ ही, अनावश्यक रूप से भारत में पूरे इस्लामी इतिहास को मनोहारी रूप में दिखाया गया है जिसकी क्रूरताओं में मजहबी उद्देश्य कहीं न था। जैसे, लेखिका के अनुसार, यदि मुस्लिम शासकों ने मंदिर तोड़े भी तो तोड़ने वाले उनके सेनापति हिन्दू थे (पृ.31), आदि। इस प्रकार, वर्तमान और इतिहास का पूरा विकृतिकरण, जो ऑक्सफोर्ड-कैम्ब्रिज-जेएनयू जैसी विद्वता की पहचान बन चुकी है कि कहीं किसी प्रसंग में इस्लाम पर किसी भी प्रकार का दोष न जाए, श्रेय ही श्रेय उसका हो। दोष सदैव हिन्दुओं का दिखे, पहले भी और आज भी।

23. रफीक जाकरिया द्वारा उद्धृत। देखें, मुहम्मद इकबाल, *शिकवा और जबावे शिकवा*, खुशवंत सिंह (अनु.), (दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999) में उनका लिखा “फोरवर्ड”, पृ. 910
24. के. ए. निजामी, *द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ शेख निजामुद्दीन औलिया* (नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड, 2007), पृ. 119
25. वही, पृ. 128, 130. यह सुलतान मुबारक खिजली और सुलतान गयासुद्दीन तुगलक के बारे में है।
26. फवैद अल फौद से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्ली: रूपा, 2004), पृ. 22627
27. वही पृ. 135. यह इतिहासकार द्वारा दिए गए अंग्रेजी रूपांतर का हिन्दी रूप है। वास्तविक अर्थ भिन्न भी हो सकता है, क्योंकि अलग-अलग जानकर एक ही फारसी पंक्ति के कुछ भिन्न अर्थ बता देते हैं। ऐसा इस लेखक ने अनुभव से पाया है।
28. वही, पृ. 135136
29. *फवैद अल फौद* से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्ली: रूपा, 2004), पृ. 22829
30. दिल्ली में कुछ वर्ष पहले हुए एक अंतर्राष्ट्रीय सूफी संगीत कार्यक्रम का नाम ही था, ‘जहान ए खुसरो’।
31. प्रसिद्ध इतिहासकार रमेश चंद्र मजूमदार द्वारा उद्धृत। “एकेडमिक फ्रीडम”, मेनस्ट्रीम (अंग्रेजी साप्ताहिक), नई दिल्ली, 10 दिसंबर, 1977। उद्धरण इतिहास-लेखन पर चल रही बहस के संदर्भ में था। इसका उत्तर देते हुए मार्क्सवादी इतिहासकार हरबंस मुखिया ने पत्रिका के अगले अंक में लिखा कि हाँ, खुसरो ने यह ‘हिन्दू-विरोधी’ बातें कही थीं, किंतु उसने दूसरी अच्छी बातें भी तो कहीं।
32. *फवैद अल फौद* से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्ली: रूपा, 2004), पृ. 226
33. के. ए. निजामी, *द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ शेख नसिरुद्दीन चिराग*(1991) से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्ली: रूपा, 2004), पृ. 22728
34. अजीज अहमद, *स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन द इंडियन इनवायररमेंट* (ऑक्सफोर्ड: 1964), पृ. 201, 210. विलियम डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (नई दिल्ली: पेंग्विन, 2006), पृ. 76 पर उद्धृत।
35. विलियम डालरिंपल, *द लास्ट मुगल* (नई दिल्ली: पेंग्विन, 2006) पृ. 76
36. वही, पृ. 83
37. एक व्याख्या के लिए फ्लोरिडा इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी में डिपार्टमेंट ऑफ रिलीजन में प्रोफेसर वालिद फारेज का विश्लेषण देखा जा सकता है।
http://www.freeman.org/m_online/dec97/phares.htm

गोरखालैंड का गोरखधंधा

ए.सी. सिन्हा*

एक बार फिर गोरखलैंड समाचार पत्रों की सुर्खियों में छाया हुआ है। बीजेपी नेता और भूतपूर्व फौजी अफसर जशवंत सिंह बागडोहरा हवाई अड्डे पर उतरते हैं, गोरखा जन मुक्ति मोर्चे के स्वयंसेवक उनका स्वागत करते हैं, 150 मोटरवाहनों का काफिला सिल्लीगुड़ी होते हुए दार्जिलिंग की तरफ बढ़ता है। रास्ते भर जोशीले नारों, वंदनवारों और फूलमालाओं से आगन्तुक नेता का स्वागत होता है। नेपाली टोपी और ललाट पर कुमकुम अक्षत सजाए गद-गद यशवन्त सिंह निकल पड़ते हैं। “ऐसा स्वागत कभी नहीं हुआ।” और हो क्यों नहीं? अन्य राजकीय दलों के समर्थन के अभाव में जी.जे. एम.एम. ने दामन पकड़ा बीजेपी का। वर्षों से पश्चिम बंगाल में पाँव जमाने में असमर्थ बीजेपी ने इसे एक सुनहरा अवसर पाया। दोनों दलों में नापतौल हुए और गोरखालैंड राज्य का समर्थन पा जी.जे.एम. ने दार्जिलिंग की संसदीय कुर्सी की थाली यशवन्त सिंह को परोस डाली। जीजेएमएम के साम-दाम-दण्ड-भेद नीति के चलते इस लोकसभा चुनाव में बीजेपी का पश्चिम बंगाल से खाता खुल गया।

स्मरणीय है कि पिछले एक वर्ष से GJMM और उसके अधिनायक मोहन गुरुंग का नाम प्रायः पढ़ने-सुनने में आ रहा है। एक साल पहले तक ऐसे ही एक दूसरे सर्वेसर्वा सुभाष घीसिंग हुआ करते थे, जो गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे (GNLF) और दार्जिलिंग को अपनी जेब में लेकर चलते थे। उन्होंने अपने संघर्ष से परम्परागत राजकीय दलों का दार्जिलिंग की राजनीति से सफाया कर दिया। फिर तो दिल्ली और कलकत्ते की राजनीतिक खाई का लाभ उठा दार्जिलिंग गोरखा पहाड़ी परिषद (Darjeeling Gorkha Hills Council : DGHC) का प्रावधान कराया। DGHC का प्रथम और एकमात्र चुनाव 1988 में सम्पन्न हुआ और उसके प्रधान की कुर्सी पा सुभाष घीसिंग विराजमान हुए। फिर तो सारे वैधानिक परम्पराओं को ताक पर रख वे अगले 20 वर्ष तक DGHC के प्रधान की कुर्सी पर चिपके रहे। जिस रफ्तार में घीसिंग का उद्दंडता भरा और अहंकारी भाषण बढ़ता गया उसी अनुपात में दार्जिलिंग की स्थिति बद से बदतर होती गयी।

* ए.सी. सिन्हा, भूतपूर्व अध्यक्ष, समाजविद्या संकाय पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022. सम्पर्क : डी 7/7331, बसन्त कुंज, नयी दिल्ली-110070

पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने एक नयी चाल चली : दार्जिलिंग के तीन पहाड़ी उपजनदों के लिए जनपदीय स्वायत्त परिषद (Hill District Council) बनाने की। पृथक गोरखलैंड के बदले केन्द्रीय और राज्य सरकारें जनपदीय स्वायत्त परिषद की मांग मानती प्रतीत हुई। परन्तु इसके क्रियान्वयन के रास्ते में संवैधानिक अड़चनें थीं, जिन्हें समय पर दूर नहीं किया जा सका। परन्तु घीसिंग ने इन अड़चनों को मात्र औपचारिकता बता रखा था। जब वे खाली हाथ दिल्ली से बागडोगरा हवाई अड्डे पर उतरे तो GJM के स्वयंसेवकों ने उनका घेराव ही नहीं किया, बल्कि दार्जिलिंग का रास्ता भी अवरूद्ध कर दिया। काफी बेइज्जती के बाद उन्हें DGHC के प्रधान पद से त्यागपत्र देना पड़ा। अब 73 वर्षीय घीसिंग दार्जिलिंग की ठंड पहाड़ियों के बदले सिल्लीगुड़ी की धूल भरी गर्मी भुगतने पर लाचार हैं।

जिन राहों में घीसिंग चले थे, उन्हीं के नक्शेकदम पर GSM के मोहन गुरुंग और उनके समर्थक भी चल पड़े हैं। फिर एक बार गोरखलैंड राज्य की मांग पुरजोर हो चली है। बन्द, धरना, घेराव, संघर्ष, हिंसा, रास्ता रोको आदि का दौर चल पड़ा है। दार्जिलिंग की अर्थव्यवस्था की रीढ़, पर्यटन उद्योग बुरी तरह प्रभावित हुआ है। पर्यटक पहाड़ों से विमुख हो रहे हैं। इस उद्योग से संबंधित व्यक्ति एक बार फिर नयी नौकरी की तलाश करने लगे हैं। दार्जिलिंग से सिक्किम की नाकेबन्दी फिर एक बार हो रही है। अब कोई नाथुला-सिल्लीगुड़ी राजमार्ग (Nathula-Siliguri Super Highway) की बात नहीं करता। दार्जिलिंग में गोरखलैंड राज्य की हवा गर्म है। परन्तु पड़ोसी उत्तरी बंगाल के जनपदों में दहशत। विभिन्न राष्ट्रीय दल संसदीय चुनाव में व्यस्त हैं और शायद ही किसी राजनीतिक दल के कार्यक्रम में गोरखलैंड का जिक्र आया है। क्या बात है कि पिछले एक सौ वर्षों से दार्जिलिंग में अलगाव की बात होती रही है और प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारें अनसुनी करती रही हैं? यह क्या गोरखधन्धा है जो बार-बार प्रकट होता है? हिंसक घटनाएँ घटती हैं, उन्हें दबाया जाता है। थोड़ी देर के लिए मानो गोरखलैंड पहाड़ियों की आग ठंडी पड़ने लगती है। परन्तु शीघ्र ही किसी कोने से कोई हवा देता है और फिर एक बार असंतोष की आग फूट पड़ती है। दार्जिलिंग की क्या समस्या है? इसके पीछे कौन से लोग लगे हैं और क्यों? और गोरखलैंड राज्य की मांग क्यों की जा रही है और इसकी क्या परिणति होने वाली है?

दार्जिलिंग : भौगोलिक और ऐतिहासिक सिंहावलोकन

जनपद दार्जिलिंग पश्चिम बंगाल की जलपाईगुड़ी कमीशनरी का पश्चिमोत्तर हिस्सा, दर्शनीय स्थान माना जाता है। इसके पश्चिम में मेची नदी और सिंगलीला शृंखला की चोटियाँ, पूरब में भूटान, उत्तर में रम्न नदी और सिक्किम और दक्षिण में जलपाईगुड़ी और किशनगंज (बिहार) के जनपद पड़ते हैं। जहाँ दार्जिलिंग, कुर्शियांग और कलिङ्पोंग के उपजनपद हिमालयी पर्वत शृंखला के अंग हैं, वहीं पर सिल्लीगुड़ी सब-डिवीजन का

क्षेत्र मोरंग कहलाता है, जो अत्यन्त छोटी-छोटी पहाड़ियों और मैदानी भाग का मिश्रित क्षेत्र है। पहाड़ों और मैदानी, दोनों ही क्षेत्रों में, बागानी अर्थव्यवस्था की प्रमुखता हैं। पहाड़ों में बारीक, स्वादिष्ट और कीमती चाय और सिनकोना के बागान हैं तो मोरंग में गाढ़ी, साधारण और आम लोगों के उपयोग की चाय पैदा होती है। पहाड़ों पर घने जंगल, जंगली जानवर, दर्शनीय स्थान और बौद्ध विहार देखने को मिलते हैं, तो मैदानी क्षेत्रों में सघन खेती। दार्जिलिंग, कलिम्पोंग, संदकफू, कुर्शियांग आदि दर्शनीय स्थान पर्यटन उद्योग के केन्द्र हैं तो सिल्लीगुड़ी की पहचान व्यापार, उद्योग और पूर्वोत्तर भारत के प्रवेशद्वार के रूप में की जाती है। पहाड़ी क्षेत्रों में नेपाली-भाषियों की प्रचुरता है और सिल्लीगुड़ी में बंगला, हिन्दी, नेपाली, सदरी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं।

दार्जिलिंग शब्द की व्युत्पत्ति तिब्बती शब्द, दोरजी (वज्र) से मानी जाती है। कहते हैं कि किसी बौद्ध भिक्षु ने पर्वतों पर उल्कापात होते देखा और उस स्थान का नाम वज्रपात स्थान, दोर्जी-त्यांगकर बैठा। फिर वहाँ बौद्ध विहार बने। परन्तु विकट सर्दी के चलते घनी आबादी नहीं बस पायी। 1642 में स्थापित नामग्याल वंशीय सिक्किम राज्य का यह क्षेत्र अभिन्न अंग रहा और सिक्किमी काजी (सामन्त) इसका प्रशासन चलाते थे। नामग्याल नरेश कमजोर पड़े और उसका लाभ उठा भूटान ने तीस्ता नदी से पूरबकलिम्पोंग क्षेत्रको हथिया लिया। स्थिति बिगड़गती गयी।

‘मगर’ और ‘लिम्बु’ तथा गणजातियों का बड़ा भाग, एक लेपचा सरदार भी, पूर्वी नेपाल में जा बसा। यही नहीं, वहाँ से इन गणजातियों ने सिक्किम पर दबाव बनाए रखा और गाहे-ब-गाहे वे नामग्याल के भूभाग पर धावा भी बोलते रहे। सिक्किम दरबार का दरबारी नेपार सरदार ने मोरंग से राजस्व भेजना बन्द कर रखा था।

18वीं सदी के मध्य में गोरखा नरेश पृथ्वीनारायण शाह के रूप में नेपाल में एक नयी शक्ति का उदय हुआ। अपनी कूटनीति, रणकौशल और दूरदृष्टि से उन्होंने नेपाल का एकीकरण कर एक केन्द्रीय सरकार की प्रतिस्थापना की। 1775 में उनकी अकाल मृत्यु पर्यन्त उनके उत्तराधिकारियों ने भी यह प्रयास जारी रखा। गोरखानरेश की नजर सिक्किम पर पड़ी और जनरल जाहर सिंह थापा के नेतृत्व में सिक्किम पर हमला हुआ। परास्त सिक्किम नरेश किसी तरह जान बचा तिब्बत भाग खड़ा हुआ। विजयी गोरखों ने सिक्किम के पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्रों पर कब्जा जमा लिया। इस प्रकार दार्जिलिंग 1780 से 1816 तक आधुनिक नेपाल के कब्जे में रहा। 1814-15 की आंग्ल-गोरखा युद्ध में पराजित नेपाल ने मेची नदी से पूरब के सभी क्षेत्र अँग्रेजों को सौंप दिए। हिमालय पार से व्यापार में सिक्किम दरबार से संभावित सहायता की अपेक्षा में अँग्रेजों ने सिक्किमपति महाराजा से 1817 में तितालिया की संधि की और नेपाल से प्राप्त सिक्किमी पहाड़ी क्षेत्रों को उसे वापस कर दिया।

आधुनिक दार्जिलिंग का इतिहास 1835 में आरम्भ होता है। नेपाल-सिक्किम की सीमा निर्धारण के संदर्भ में दार्जिलिंग पहाड़ियों से गुजरते हुए कैप्टन कैम्पबेल की

नजर इस स्थान की उपयुक्तता पर पड़ी। तत्कालीन औपनिवेशिक राजधानी कलकत्ते की गर्मी से बचने के लिए अंग्रेज एक स्वास्थ्यप्रद पहाड़ी स्थान की खोज में थे। इसके पहले खाशी पहाड़ियों में इन्होंने चैरापूँजी को विकसित करने का प्रयास किया था। परन्तु अत्याधिक वर्षा के कारण वह प्रयास असफल रहा। जब दार्जिलिंग की उपयुक्तता का प्रश्न गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक के सामने आया तो उसने तुरंत हामी भर दी। 138 वर्ग मील में फैले करीब 100 निवासियों के साथ सिक्किमपति महाराज ने बीमार अंग्रेजों की हवाखोरी के लिए दार्जिलिंग को सशर्त भेंट करने का प्रस्ताव किया। शर्तें थीं कि सिक्किमपति को मोरंग यानी आज का नक्लबारी क्षेत्र और उसके भूतपूर्व मुसाहिब निम्पो प्रधान को सुपुर्द किया जाय। अंग्रेजों ने दोनों शर्तों को नामंजूर कर दिया। लाचार सिक्किमपति नरेश ने गवर्नर-जनरल से दोस्ती के नाम दार्जिलिंग पहाड़ी को अंग्रेजों को भेंट कर दिया। फिर तो देखते-देखते दार्जिलिंग का विधिवत परिवर्तन शुरू हुआ। जहाँ 1839 में वहाँ मुश्किल से 100 व्यक्ति निवास करते थे, वहीं 1849 में 10,000 विभिन्न प्रकार के मकान बनाए जा चुके थे। वहाँ सड़क, बाजार, अस्पताल, स्कूल, सैनेटोरियम, कचहरी, रिहायशी बंगले आदि बनने लगे। परन्तु तत्कालीन दार्जिलिंग चतुर्दिक सिक्किम नरेश की भूमि से घिरा हुआ था। विकास कार्यों के लिए श्रमिकों के अलावा इमारती लकड़ी, लोहे, सीमेंट चूना, पत्थर आदि की आवश्यकता थी। इन वस्तुओं को मैदानों से लाने के लिए सड़क की जरूरत थी, जिसके निर्माण के लिए जमीनें देने में महाराजा के मुलाजिम आनाकानी करते रहे।

स्थानीय निवासीलेफ्टा, भोटिया या लिम्बूएसे कार्यों में निपुण नहीं थे।

सिक्किम, भूटान, तिब्बत में, उन दिनों एक तरह की दास प्रथा प्रचलित थी। स्थानीय सामन्तों के अत्याचारों से तंग आकर अकसर इन पहाड़ी रजवाड़ों की प्रजा भाग कर दार्जिलिंग आ मजदूरी करने लगती थी। सामंत अंग्रेजी कायदा-कानूनों से अनभिज्ञ थे। अहंकारी सभासद प्रायः अपने श्रमिकों की खोज में दार्जिलिंग पर धावा बोलते थे। इन क्रियाकलापों से प्रायः वैमनस्य बढ़ता था। महाराजा को दार्जिलिंग से होने वाली राजस्वहास के स्थान पर अंग्रेजों ने तीन हजार रुपये वार्षिक राजस्व देने का प्रस्ताव किया। यह रकम कई बार बढ़ायी गयी और जब्त भी की गयी। परन्तु सिक्किम और अंग्रेजी दार्जिलिंग के बीच कटुता बढ़ती ही गयी। दोनों के बीच एकाधिक बार युद्ध भी हुए। आखिरकार 1861 की संधि के होते-होते रम्मन नदी से दक्षिण और तीस्ता से पश्चिम का पूरा भाग अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। पाँच वर्ष बाद भूटान से सिन्चुला की संधि कर अंग्रेजों ने कलिम्पोंग क्षेत्र प्राप्त किया। इस प्रकार मात्र तीन दशकों में आज का दार्जिलिंग जनपद 1866 तक अस्तित्व में आ गया। बंगभंग के वर्षों (1905-1912) को छोड़कर, जब दार्जिलिंग भागलपुर कमिश्नरी से जोड़ा गया था, 1947 तक (यानी आठ दशकों तक) राजशाही कमिश्नरी का एक जिला था।

मात्र 100 निवासियों का दार्जिलिंग 1872 में 94,712 मनुष्यों का निवास स्थान था, जिनमें 34 प्रतिशत नेपाली थे। बीस वर्षों बाद 1891 में दार्जिलिंग में नेपालियों का प्रतिशत 50 हो गया और इसके एक सौ वर्ष बाद दार्जिलिंग की पहाड़ियों के दस लाख निवासियों में 90 प्रतिशत नेपाली मूल के थे। ऐसा अकारण नहीं हुआ। एक तो भूटिया काजियों और लामाओं के विपरीत अंग्रेज नेपाली राणाओं को तरजीह देते थे। दूसरे राणाओं के सताये गए सस्ते नेपाली श्रमिक सेना, पुलिस, पहरेदारी के अतिरिक्त चाय बागानों, जंगल साफ करने, सड़क बनाने, पशुपालन, दूध-दही व्यवसाय आदि में अंग्रेजों की अपार सहायता कर रहे थे। शीघ्र ही दार्जिलिंग चाय उद्योग और शिक्षण का केन्द्र बन गया। कुछ नेपालियों ने इसका लाभ उठाया। आधुनिक शिक्षण के अभाव में नेपाल के निवासियों के लिए दार्जिलिंग आकर्षण का केन्द्र बनने लगा। कई नेपालियों ने व्यापार और सरकारी नौकरियाँ संभाली, अब तक दार्जिलिंग अंग्रेजी फौज के गोरखा रेजीमेंट का भर्ती केन्द्र बन चुका था। कहना न होगा कि शीघ्र ही दार्जिलिंग इन सुविधाओं के चलते शिक्षित, जाग्रत और चौकन्ने नेपालियों का केन्द्र बनने लगा। भारतीय नेपाली जाति के विकास में दार्जिलिंग की विशेष भूमिका रही है। विशेषकर साहित्य, संगीत, संस्कृति, प्रकाशन, पत्रकारिता, आधुनिक व्यवसायीकरण के साथ भारतीय नेपालियों में ही नहीं, पूरे नेपाली राष्ट्र के पुनर्जागरण में दार्जिलिंग का विशेष स्थान है। पिछले आठ दशकों से दार्जिलिंग के नेपाली बुद्धिजीवी नेपाली राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान कर रहे हैं।

अस्मिता और नामकरण का प्रश्न

नेपाली कहे जाने वाले दार्जिलिंग के मूल निवासी या नेपाल से आगतों की दो समस्याएँ रही हैं; उनकी भारतीय पहचान और उपयुक्त नामकरण। नेपाली भाषियों को अंग्रेजों ने अपनी उपयोगिता के अनुसार तीन शिथिल वर्गों में रखा था। गोरखे फौजी नेपाली व्यवसायी और दस्तकार, प्रायः फौज के लिए अनुपयुक्त; पहाड़ियां श्रमिक, कृषक, पशुपालक, प्रायः फौज के लिए अनुपयुक्त। नेपाल से आवागमन में कोई विशेष समस्या न थी। अधिकतर नेपाली रोजी की तलाश में हिन्दुस्तान के मैदानों में आते थे और कमाई कर कुछ महीनों या वर्षों में वापस चले जाते थे। परन्तु नेपाल में प्रत्येक नेपाली को 'मुल्की आइन' - नेपाल सिविल कोड के दायरे में रहना पड़ता था और प्रवास में भी उन्हें प्रायः नेपाली नरेश की प्रजा माना जाता था। परन्तु वे नेपाली जो भारत में बस गए और कालान्तर में भारतीय नागरिक बन गए, उनके समक्ष अपना सर्वाधिक आकर्षक आयाम सामने लाने की बात थी। इन लोगों ने अपने को गोरखा कहना पसन्द किया। इनमें अधिकतर या तो भूतपूर्व गोरखा सैनिक थे या उनके वंशज; परन्तु सभी निश्चित रूप से सैनिक या सुरक्षा कार्यों से संबंधित नहीं थे। यह और बात है कि गोरखा सैनिकों की बहादुरी की कहानियाँ सबों को कर्णप्रिय लगती

थीं और उन पर वे गर्व अनुभव करते थे। इस प्रकार गोरखा सैनिकों की छवि के साए में पशुपालक, कृषक दस्तकार और अन्य श्रमिकों ने अपने को परिभाषित करने का प्रयास किया, परन्तु यह जानने योग्य है कि आखिर गोरखा शब्द की पृष्ठभूमि क्या है?

कहा जाता है कि 'खश' गणजाति के सरदार द्रव्यशाह ने 1559 में आधुनिक काठमांडू घाटी से पश्चिम 'गोरखा' राजवंश की नींव डाली। कालान्तर में शाहवंशी नरेशों ने अपनी हिन्दू अस्मिता को प्रतिष्ठित करने के लिए अपने को चित्तौड़गढ़ के क्षत्रियों से जोड़ा और भारत को दूषित 'मगलान' बताते हुए अपने राज्य को 'असल हिन्दुस्तान' तक बता डाला। परन्तु मानवशास्त्रियों की मान्यता है कि शाहवंशी वास्तव में 'खश' गणजाति के थे। वे गाय के रक्षक और योगी गोरखनाथ पंथ के अनुयायी थे। इस प्रकार गोरखा शब्द को 'गोरक्षा' और गोरखनाथ से जोड़ा जाता है। परन्तु नेपाली विद्वान सूर्यविक्रम ज्ञवाली और हर्कागुरूंग गोरखा शब्द को 'खश' शब्द 'गोरखा' (राजस्वक्षेत्रे) का रूप मानते हैं। जो भी हो, शाहवंशी नरेशों ने अपने राज्य को 'गोरखा' और अपनी भाषा को 'गोरखाली' बताया। यहाँ तक कि कालान्तर में उनके सैनिक भी गोरखा के नाम से जाने जाने लगे। 1814-15 की लड़ाई में गोरखा सैनिकों की निर्ममता, क्रूरता, बहादुरी, बचपना और रणकौशल ने अंग्रेजों को काफी प्रभावित किया। 1857 में गोरखा सैनिकों की भूमिका देख अंग्रेजों ने उन्हें लड़ाकू प्रजाति (Martial Race) का दर्जा दे डाला। यही नहीं, कई अंग्रेज अफसरों ने गोरखा सैनिकों की बहादुरी में बहुत कुछ लिख डाला। फिर तो अंग्रेजों ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में गोरखा सैनिकों को अपना ढाल बनाया। प्रायः सैनिक शिविरों या युद्ध के मोर्चों पर रहने वाले गोरखा सैनिक, रोजमर्रे की तंगहाल जिन्दगी से अनभिज्ञ, रणक्षेत्र की बहादुरी के गौरव को ही एकमात्र सत्य मानने लगे। दूसरी तस्वीर बहादुर सिपाही के अतिरिक्त है गोपालक, पहरेदार एवं श्रमिक की।

इस गुथी में एक और आयाम जुड़ता है, भारत-नेपाल मैत्री संधि, 1950 के करार पर हस्ताक्षर होने के बाद। संधि के प्रावधान '7' के अनुसार भारत में नेपाली नागरिकों और नेपाल में भारतीयों को बसने, नौकरी करने, व्यवसाय या आवागमन का पूरा अधिकार है। आम नागरिकों के लिए गोरखों और नेपालियों के बीच की दूरी समझना आसान नहीं है। फिर इनमें प्रजातीय, भाषाई और बेटी-रोटी के सम्बन्ध के अलावा पारम्परिक पहनावा भी एक समान है। और तो और, कईयों के पास एकाधिक नागरिकता भी है। ऐसी स्थिति में औसत भारतीय नागरिक नेपाली मूल के भारतीयों और भारत स्थित नेपाली नागरिकों को नेपाली समझ बैठता है। नेपाली मूल भारतीयों का एक वर्ग है, जो अपने को गोरखा, अपनी भाषा को गोरखाली और अपने काल्पनिक गृहराज्य को गोरखालैंड नाम दे रखा है और उसकी प्राप्ति के लिए कुछ भी करने को उद्यत है। इस वर्ग के अनुसार अपने को नेपालीभाषी बताने वाले भारतीय विदेशी हैं और उनका उसी रूप में स्वागत होना चाहिए।

गोरखालैंड मांग की पृष्ठभूमि और गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे का उदय

अंग्रेजों की शह पर भूतपूर्व गोरखा सैनिकों ने 1906 में Gurkha Officers' Association बनाई और अगले वर्ष दार्जिलिंग के लिए एक अलग प्रशासनिक इकाई बनाने की मांग की। 1917 में इन्होंने दार्जिलिंग के साथ-साथ जलपाईगुड़ी जिले को मिलाकर एक अलग इकाई के लिए आवेदन दिया। शीघ्र ही उत्तर-पूर्व सीमान्तीय प्रदेश (North-Eastern Frontier Province—NEFP) की मांग की गयी, जिसमें दार्जिलिंग, उत्तर बंगाल, असम और अरुणाचल को सम्मिलित करने का प्रस्ताव रखा गया। इस मांग के समर्थन में इन्होंने Hillmen's Association, Planters' Association और European's Association से प्रस्ताव पास कराए। फिर 1943 में अखिल भारतीय गोरखा लीग (All India Gorkha League—AIGL) की स्थापना के बाद गोरखा अलगाव की मांग ने गति पकड़ी। Gorkha League ने 1949 में उत्तराखंड नाम से एक नए प्रदेश की परिकल्पना प्रकट की। इस मांग के पीछे कार्यरत अनिश्चित मानसिकता प्रकट करने के लिए इसके प्रस्ताविक क्षेत्रों पर एक नजर डालना पर्याप्त है। उत्तराखंड प्रस्तावित प्रदेश नीचे लिखे क्षेत्रों में बनेगा :

अ : दार्जिलिंग, सिक्किम, जलपाईगुड़ी, डुआर्स एवं कूचबिहार या

आ : दार्जिलिंग, जलपाईगुड़ी एवं कूचबिहार, या

इ : दार्जिलिंग और सिक्किम, या

ई : दार्जिलिंग जिला मात्र।

इसके दो साल पहले, अप्रैल 6, 1947 को भारतीय साम्यवादी दल ने तत्कालीन अन्तरिम सरकार के समक्ष 'गोरखास्थान' नामक स्वतंत्र राष्ट्र की मांग रखी। साम्यवादियों द्वारा प्रस्तावित गोरखास्थान में दार्जिलिंग, सिक्किम और नेपाल शामिल किए गए थे। स्वाभाविक है इस प्रकार की बेसिर-पैर की मांग पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। राज्य पुनर्गठन आयोग (SRC) के सामने भी गोरखालैंड की मांग रखी गयी। परन्तु आयोग ने भी इसे नामंजूर कर दिया। फिर भी विभिन्न नामों से दार्जिलिंग निवासियों ने अपने को पश्चिम बंगाल से अलग करने की मांग अनवरत जारी रखी। इसका कारण बताया जाता रहा है कि बंगाल में उनकी आवाज को अनसुनी किया जाना और उनका सांस्कृतिक और राजकीय विकास अवरुद्ध होना।

यों तो अलग गोरखालैंड राज्य की मांग सर्वप्रथम 'प्रान्त परिषद' नामक संस्था ने अप्रैल, 1980 में विधिवत रखी। उसके करीब दो महीने बाद जुलाई, 1980 में एक भूतपूर्व सैनिक, सुभाष घीसिंग, ने इसके लिए आन्दोलन चलाने के लिए गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (Gorkha National Liberation Front—GNLF) की स्थापना की। उसके पहले अपनी साहित्यिक महत्वाकांक्षा व्यक्त करने के लिए घीसिंग साहब सस्ती

फुटपाथ मार्का रोमानी उपन्यास 'लीलो (नीली) चोली' लिख चुके थे। प्रांत परिषद् के समर्थक गोरखालैंड राज्य के पक्ष में जनसमर्थन जुटा रहे थे, वहीं घीसिंग ने आन्दोलन को हिंसक रूप दे युवकों में संगठित सैनीकरण की मान्यता पैदा की। नेपालीभाषी युवक फौजी वर्दी के प्रति पहले आकर्षित होता है, क्योंकि समाज में सैनिकों की प्रतिष्ठा आर्थिक स्थिति और परम्परानुसार सर्वमान्य है। बेकार युवक पुरानी फौजी वर्दी, जिसे प्रायः फुटपाथ से खरीदा गया हो, पहन और गैरकानूनी हथियारों से लैस सरकारी सुरक्षा बलों का सामना करने में एक नए प्रकार का अधकचरा आत्मसम्मान अनुभव करने लगा। दार्जिलिंग में हिंसा भड़क उठी। एक तरफ GNLF, तो दूसरी तरफ CPI(M) की युवा शाखा के सदस्य और तीसरी तरफ केन्द्रीय सुरक्षा बल। 1985 आते-आते, पूर्वोत्तर भारत से विस्थापित नेपाली भाषियों की संख्या दार्जिलिंग में बढ़ने लगी। और उसके साथ ही बढ़ने लगी हिंसा, हत्या, बन्द, आगजनी और अराजकता। ऐसी स्थिति में शान्तिपूर्व राजनैतिक आन्दोलन करने वाले क्षेत्रीय और राष्ट्रीय राजनैतिक दल प्रायः अपनी सार्थकता खोने लगे थे। दार्जिलिंग में घीसिंग का एकछत्र वर्चस्व हो चला। 14 जनवरी, 1987 को पहला प्रयास हुआ ताकि कोई समझौता हो पाए। ये समझौता वार्ताएँ अगले डेढ़ साल तक चलीं और इसकी परिणति 22 अगस्त, 1988 को भारत सरकार, पश्चिम बंगाल सरकार और GNLF के बीच त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर से हुई। समझौते की शर्तों के अनुसार 42 सदस्यीय 'दार्जिलिंग गोरखा पहाड़ी परिषद' (DGHC) में 28 चुने हुए और 14 नामजद सदस्यों का प्रावधान था। परिषद को कई स्वायत्तीय अधिकार और धन का उदारतापूर्वक आबंटन भी। गोरखालैंड राज्य की प्राप्ति तो नहीं हुई, इस कारण उभरी हुई अपेक्षा की पूर्ति नहीं होने से त्रिपक्षीय समझौता ने एक नए प्रकार के आक्रोश को जन्म दिया। DGHC का चुनाव दिसम्बर 13, 1988 को हुआ और घीसिंग साहब की मुराद पूरी हुई : वे DGHC के अध्यक्ष की कुर्सी पर आ जमे। यह कुर्सी उन्हें इतनी जंची कि सारी विधि-विधानों को ताक पर रख, घीसिंग साहब 20 साल तक उससे चिपके रहे।

स्वाभाविक है कि घीसिंग के निकम्मेपन, अहंकार और बड़बोलापन से तंग आकर उनके समर्थक दूर होने लगे। दार्जिलिंग विकास के सारे वादे धरे के धरे रह गए और DGHC की अनुपयुक्तता स्पष्ट होने लगी। केन्द्रीय और राज्य सरकारों से शह पा घीसिंग ने एक और तुक्का फेंका : जनपदीय स्वायत्त परिषद की पहल (Autonomous District Council) का। स्मरणीय है कि भारतीय संविधान की छठी अनुसूची में निहित प्रावधानों के अनुसार अनुसूचित जनजाति बहुल पहाड़ी जिलों के लिए स्वायत्त जिला परिषदों की व्यवस्था की गयी है। यह व्यवस्था काफी सोच-समझ कर बहुभाषीय और बहुजातीय असम राज्य से आरम्भ होकर अन्य पूर्वोत्तर राज्यों में ही सीमित है। इस प्रावधान के अनुसार स्वायत्तशासी परिषदों के चुने हुए पदाधिकारियों के पास

विशेष अधिकार, बजट और जिम्मेदारियाँ होती हैं। अधिकार स्वायत्त शासी परिषदें कालान्तर में राज्यों में परिवर्तित भी हो गयीं। स्वाभाविक है कि इस प्रस्ताव का काफी विरोध हुआ। दार्जिलिंग की संसिष्ट (Complex) जनसंख्या के लिए, जहाँ अनुसूचित जनजातियों की संख्या काफी कम है, स्वायत्त परिषद की भूमिका पर प्रश्न उठाए गए। काफी विवाद के बाद मार्च 1, 2008 को भारतीय संसद ने इस बिल पर विचार करना नार्मजूर कर दिया। अब तक घीसिंग के हाथ से GNLF का संगठन निकल चुका था। एक जमाने में भारत सरकार के विरुद्ध अपने पक्ष में संयुक्त राष्ट्र संघ, नेपाल नरेश, भूटान नरेश आदि को सनसनीखेज बेटुका पत्र लिखने वाला घीसिंग अपनी कलम की ताकत को खो चुका था। अब तो कल का यह जनाधिकारों का हिमायती जनता के लिए सिरदर्द बनकर रह गया था।

गोरखा जनमुक्ति मोर्चा (GJM&GJMM) : एक नयी पहल

2007/8' वर्ष की सर्दियों में घीसिंग के स्वायत्त परिषद के प्रस्ताव से दार्जिलिंग निवासी इतने न खीझे हुए थे कि वहाँ प्रायः बन्द आयोजित होते; घीसिंग के पुतले जलाए जाते; उनका जनाजा निकाल, उनकी अन्तेयष्टि की जाती; भूख हड़तालें की जातीं और घीसिंग से पद त्याग की मांग की जाती और गोरखालैंड राज्य के पक्ष में प्रस्ताव पारित किए जाते। फिर भी दम्भी और अहंकारी घीसिंग कलकत्ते और दिल्ली के हुक्मनुराने को बरगलाने में लगे रहे। लेकिन ढोल की पोल खुल ही गयी और राज्य के मुख्यमंत्री ने घीसिंग को 210 दिनों के अन्दर पदत्याग करने का नोटिस दिया। तब तक घीसिंग का भूतपूर्व दाहिना हाथ समझा जाने वाला मोहन गुरुंग एक नया मोर्चा बना चुका था : गोरखा जनमुक्ति मोर्चा (GJMM/GJM)। नए मोर्चे ने घीसिंग के दार्जिलिंग प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी। यही नहीं, मोर्चे ने स्वयंभू 'दार्जिलिंग पहाड़ियों के तथाकथित राजा' के स्वागतार्थ घेरा डाल कर नारेबाजी कर रखी थी। उनकी सारी हेकड़ी चूर हो गयी। अन्ततोगत्वा 10 मार्च, 2008 को घीसिंग ने लाचार होकर दार्जिलिंग गोरखा पहाड़ी स्वायत्त परिषद के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु उनके दार्जिलिंग प्रवेश पर निषेध लागू है और निकट भविष्य में उनका दार्जिलिंग की पहाड़ियों में प्रवेश करना असम्भव लग रहा है। उनके GNLF के अधिकांश सक्रिय सदस्य नए मोर्चे में शामिल हो गए हैं। एक नए सिरे से गोरखालैंड राज्य की मांग के पक्ष में आन्दोलन जारी है। GJM अध्यक्ष मोहन गुरुंग ने मार्च, 2010 तक गोरखालैंड राज्य की प्राप्ति का लक्ष्य रखा है। ऐसी कौन सी बात हुई कि ऐसा पटाक्षेप हो गया और हताश-निराश नेपाली भाषी एक नए विश्वास के साथ उठ खड़े हुए?

एक साधारण सा परिवार में मोहन गुरुंग का जन्म 1964 में हुआ और उसने स्कूली शिक्षा भी पूरी नहीं की। GNLF के स्वयंसेवक से शुरू कर शीघ्र की वह अपने 'मुहल्ले का शेर' बन बैठा। उसका गुरु, सुभाष घीसिंग, उसका उपयोग मजमेबाजी,

मारपीट और हिंसक प्रदर्शन के लिए करता रहा। रुद्र कुमार प्रधान, DGHC के सिंगआरी:तिक्वार पार्षद की दिनदहाड़े हत्या कर दी गयी। उस रिक्त स्थान पर मोहन गुरुंग एक आज़ाद उम्मीदवार के रूप में 1999 में चुना गया। बिल्ली के भाग से छिक्का टूटा : इंडियन आइडल, 2007 (Indian Idol, 2007) में दार्जिलिंग निवासी गायक सिपाही प्रशान्त तमांग का नाम उभरा। मौके की तलाश में मोहन गुरुंग ने 'प्रशान्त तमांग फैन क्लब' के आयोजन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया और फिर तो क्लब का सलाहकार बन बैठा। विजयी प्रशान्त तमांग के घर-वापसी के साथ सिल्लीगुड़ी में हिंसा भड़क उठी। किसी टी.वी. चैनल के प्रस्तुतकर्ता ने प्रशान्त के विजय पर अनुपयुक्त टिप्पणी की, जिससे नेपालीभाषियों में नाराज़गी फैली। प्रदर्शन हुए, बन्द आयोजित किए गए। उसके बाद प्रशान्त तमांग के विजय की खुशी में अनेक स्थानों पर उत्सव हुए। फिर 'फैन क्लब' की तरफ से आम जनता को समर्थन देने के लिए धन्यवाद देने का दौर शुरू हुआ। इन सभी क्रिया-कलापों में मोहन गुरुंग छाया रहा। इन आयोजनों में आगुंतकों के स्वागत या धन्यवाद के क्रम में मोहन गुरुंग प्रस्तावित स्वायत्तशासी परिषद् के विरुद्ध बोलने लगा। दार्जिलिंग के बुद्धिजीवी मानते हैं कि स्वायत्तशासी परिषद् के माध्यम से राज्य सरकार नेपालीभाषियों के बीच सामाजिक बंटवारा कर गोरखालैंड राज्य की मांग को समाप्त करना चाहती है। प्रशान्त तमांग के विजय के दो सप्ताह के बाद मोहन गुरुंग ने GJM की स्थापना गोरखालैंड राज्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से की। देखते-देखते जैसे-जैसे गुरुंग का स्वर मुखर होता गया, GNLF के घटक GJM से जुड़ने लगे। फिर तो बुद्धिजीवी आगे आए। विभिन्न राजनैतिक दलों की स्थानीय इकाइयाँ, जो घीसिंग के दबदबे में निष्क्रिय थी, सक्रिय हुईं और GJM के समर्थन में आ जुटीं। एक बार गोरखालैंड राज्य के प्रश्न पर दार्जिलिंग में आम सहमति बनती दिखायी दी।

घीसिंग और GNLF के विपरीत GJM ने अपनी मांग का दायरा बढ़ा कर जलपाईगुड़ी और कूचबिहार जिलों को भी गोरखालैंड राज्य के अन्दर लाया। इस सम्बन्ध में मोर्चे ने सदरी भाषी आदिवासी युवकों और कोच समुदाय के युवकों को अपने साथ संलग्न करने का प्रयास किया। प्रकटतः मोर्चा अपने आन्दोलन को अहिंसक विधि से चलाने का दावा कर रहा है। स्पष्ट है कि GJM की पहले दौर की लड़ाई मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी पश्चिम बंगाल सरकार और वामपंथी बंगालीभाषियों से है। गुरुंग और मोर्चे को अपने विगत क्रियाकलापों की बहुत कम सफाई देनी है। उसी प्रकार मोर्चे के पास कोई सैद्धांतिक बोझ (Ideological baggage) भी नहीं है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गुरुंग किसी भी दूर तक जाने के लिए और किसी से भी हाथ मिलाने के लिए तत्पर दिखता है। मोर्चे का नेतृत्व दिल्ली यात्रा कर राष्ट्रीय दलों के नेताओं को अपने विचार से अवगत कराता रहा है। लगता है कि कांग्रेस से उपयुक्त प्रतिक्रिया के अभाव में मोर्चे ने 2009 के संसदीय चुनाव के लिए बीजेपी का

दामन थामा है। वर्षों से बीजेपी पश्चिम बंगाल में पाँव जमाने की ताक में रही है। GJM ने बीजेपी को एक सुनहरा अवसर प्रदान किया है। परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में मोर्चा और गुरूंग अपना पल्ला झाड़ सकते हैं। अभी तो राष्ट्रीय चुनाव के कारण पहाड़ों पर अपेक्षाकृत शान्ति बनी हुई है। फिर देखना है ऊँट किस करवट बैठता है? दार्जिलिंग पहाड़ियों की बंगाल से अलगाव की मांग करीब एक सौ साल पुरानी है। मांग का मुख्य आधार रहा है भारतीय नेपालीभाषियों की अपने लिए एक गृहराज्य की तलाश। भारतसंघ में सिक्किम राज्य के अतिरिक्त दार्जिलिंग जनपद के तीन पहाड़ी उपजनपद (सब-डिवीजन) हैं, जहाँ नेपालीभाषियों की बहुलता है। साथ में लगे सिलीगुड़ी उपजनपद, जलपाईगुड़ी और कूचबिहार जिलों में भी उनकी अच्छी तादाद है। ये ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ कोच समुदाय पं. बंगाल से पृथक कामतापुरी राज्य का आन्दोलन चला रहा है। दूसरी तरफ करीब 150 वर्षों पहले झारखंड से आयातित आदिवासी चाय बागान मजदूर अलग से आन्दोलित हैं। गोरखालैंड या नेपालीभाषियों की गृहराज्य की मांग समय के अनुसार बदलती रही है। किसी समय में नेपाल, सिक्किम और दार्जिलिंग को मिलाकर गोरखा स्थान की मांग की गयी। उसी समय पूर्वोत्तर सीमान्तीय प्रदेश की परिकल्पना पेश की गयी, जिसमें सिक्किम, उत्तरी बंगाल के साथ-साथ पूर्वोत्तर के सभी क्षेत्र शामिल किए गए। इसका एक अन्य पहलू यह है कि कल तक के एकमात्र गोरखा प्रवक्ता, सुभाष घीसिंग, दार्जिलिंग जिले के तीन पहाड़ी सब-डिवीजनों को मिलाकर गोरखालैंड राज्य बनाने को तत्पर थे। ऐसी स्थिति में, गोरखा देश को कौन सा सम्वाद देना चाहते हैं? उनकी मांग का वस्तुपरक आधार क्या है? यही न कि भारतीय नेपाली भाषियों की गृह राज्य की मांग ताकि वे अपने सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार अपने भविष्य का निर्माण कर सकें?

निश्चित रूप से भारतीय संघ में राज्यनिर्माण के मार्ग में भाषा अत्यावश्यक बिन्दु रहा है। परन्तु एकाधिक हिन्दी और बंगलाभाषी राज्य हैं। राज्य का क्षेत्रफल कितना बड़ा हो? इस प्रश्न का सीधा उत्तर तो नहीं मिलता; परन्तु परोक्ष रूप में भौगोलिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक पहलू छोटे राज्यों के निर्माण में सहायक हुए हैं। यथा त्रिपुरा का पश्चिम बंगाल में विलीन होने के स्थान पर अलग राज्य होना (भौगोलिक); गोवा का अलग राज्य बनना (ऐतिहासिक); या नागालैंड और मिजोरम का पृथक राज्य बनना राजनैतिक पहलू से किए गए फैसले थे। लगभग 10 लाख की जनसंख्या वाले दार्जिलिंग के पहाड़ी क्षेत्रों की 90 प्रतिशत आबादी नेपाली भाषी है। क्या उन्हें, यानी तीन पहाड़ी सब-डिवीजनों को मिलाकर गोरखालैंड राज्य दे देनी चाहिए? क्यों नहीं अगर यह बहुमत की मांग है और राज्य आर्थिक रूप से स्वयं में सक्षम हो तो। परन्तु इतनी छोटी इकाई का यानी जिले स्तर से भी नीचे सब-डिवीजन के स्तर पर राज्य अब तक नहीं बना है। तो क्या, जो अब तक नहीं हुआ, वह भविष्य में भी नहीं होगा? इस प्रश्न का उत्तर तो भविष्य ही देगा। परन्तु अगर ऐसा हुआ तो

उसके बहुआयामी परिणाम भी भारतीय संघ को भुगतना पड़ेगा।

GJM की मांग है कि दार्जिलिंग के तीन पहाड़ी सब-डिवीजनों के अतिरिक्त जलपाईगुड़ी और कूचबिहार जिले और दार्जिलिंग जिले का सिलीगुड़ी सब-डिवीजन को प्रस्तावित गोरखालैंड राज्य में अन्तर्मुक्त होना चाहिए। क्यों? वहाँ कितने नेपालीभाषी बसते हैं? सिलीगुड़ी सब-डिवीजन की 8,50,000 आबादी में मात्र एक लाख नेपाली भाषी 2001 में पाए गए, तो क्या 7,50,000 गैर-नेपाली भाषियों की आवाज नहीं सुननी चाहिए? ऐसी ही स्थिति जलपाईगुड़ी और कूचबिहार की है; वहाँ भी 10 प्रतिशत से अधिक नेपालीभाषी नहीं पाए जाते। तो क्या वहाँ के अन्य भाषा-भाषियों की आवाज नहीं सुनी जानी चाहिए? क्या ऐसा करना जनतांत्रिक होगा? अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि उपरोक्त तीनों जिलों को मिलाकर एक गोरखालैंड राज्य बनाया जाय। तो वहाँ के कोच, बंगाली, आदिवासी, हिन्दीभाषी आदि अपने को गोरखा क्यों मानने लगेंगे और राज्य का नाम गोरखालैंड ही क्यों होगा? कोई कारण नहीं दिखता कि कामतापुरी राज्य के समर्थक अपनी कोच राज्य की मांग छोड़कर गोरखालैंड के समर्थक बन जाएंगे?

इस संदर्भ में आश्चर्य होता है कि गोरखालैंड आन्दोलन के कर्णधार सिक्किम का नाम भी नहीं लेते। दूसरी तरफ अपनी गोरखालैंड आन्दोलन जन्य परेशानियों के बावजूद सिक्किमी नेता आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। आन्दोलनकारियों का पूरा गुस्सा पश्चिम बंगाल सरकार और बंगलाभाषी बुद्धिजीवियों के प्रति प्रकट होता है। बंगाली मानसिकता गोरखालैंड का इतना पुरजोर विरोध क्यों कर रही है? इस प्रश्न के उत्तर में बंगलाभाषी प्रायः भावुक हो कह पड़ते हैं कि वे बंगाल का दूसरा विभाजन सहन नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि 1905 का बंगभंग बंगाल और भारत राष्ट्र दोनों के लिए काफ़ी कष्टकारक सिद्ध हुआ था। संभवतः कोई भी भारतीय उस दुर्घटना की पुनरावृत्ति नहीं चाहेगा। बंगाली बुद्धिजीवी पूर्वी पाकिस्तान/बंगलादेश के गठन के बाद से उसकी आवृत्ति की मात्र सम्भावना से उद्विग्न हो उठते हैं। परन्तु दार्जिलिंग तो मात्र 150 वर्षों से बंगाल से जुड़ा है। उसकी आबादी, भाषा, संस्कृति, भौगोलिक स्थिति, यहाँ तक कि उसका इतिहास, बंगाल से अलग रहा है फिर दार्जिलिंग का अलग होना बंगभंग कैसे माना जा सकता है? क्या यह एक तरह का दुराग्रह नहीं माना जा सकता है? जब बिहार से बंगलाभाषी क्षेत्र (यथा पुरुलिया और पश्चिम दिनाजपुर का अधिकांश भाग) पश्चिम बंगाल को लेने में परहेज नहीं रहा, तो फिर दार्जिलिंग का गैर-बंगाली भाषा के क्षेत्र बंगाल में रखने का औचित्य क्या है?

जाहिर है कि दार्जिलिंग का इतिहास, भूगोल, जनसंख्या, संस्कृति और आवागमन, सिक्किम से जुड़ा रहा है। सच तो यह है कि दार्जिलिंग और सिक्किम एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। परन्तु समस्याएँ बहुत हैं। दोनों क्षेत्रों के कर्णधार एक-दूसरे का लिहाज कर कोई भी ऐसी बात नहीं होने देना चाहते, जिससे दूसरे की भावनाओं को

किसी प्रकार की चोट पहुँचे। सिक्किम में चाहे नेपाल हो, या दार्जिलिंग, या तिब्बत, या भारतसंघ का मैदानी भाग, बाहरी व्यक्तियों से जुड़ा प्रश्न अत्यन्त ही संजीदा माना जाता है। दार्जिलिंग के संदर्भ में सिक्किमी बुद्धिजीवी परिहास भरे अंदाज में प्रस्फुटित होते हैं : “भला साढ़े पाँच लाख की आबादी वाला सिक्किम राज्य 20 लाख वाले जिले में कैसे मिल सकता है? इस प्रक्रिया से सिक्किम को क्या हाथ आएगा?” अगर ऐसी स्थिति आती है, तो सिक्किम में आशंका है कि दार्जिलिंग के शिक्षित, व्यवहारकुशल और संघर्षशील निवासी बाढ़ के पानी के समान सिक्किम की परम्परा-पसन्द, सीधी-सादी जीवन और संरक्षित जनमानस पर छा जाएंगे। तो क्या इसी नियति के लिए सिक्किम का भारत में विलय हुआ था?

1988 की त्रिपक्षीय वार्ता को सफल बनाने के क्रम में विभिन्न घटकों के बीच संवाद सफल कराने में इन्द्रजीत खुल्लर नामक पत्रकार ने कुछ भूमिका अदा की थी। कृतज्ञः घीसिंग ने अलगे आम चुनाव में दार्जिलिंग की एकमात्र लोकसभा की कुर्सी खुल्लर साहब को पेश कर दी। उसके बाद फिर खुल्लर साहब पहाड़ों पर दिखे-सुने नहीं गए। गोरखालैंड राज्य का प्रस्ताव और आन्दोलन, GOM और उसके अध्यक्ष मोहन गुरूंग का क्या हथ्र होगा यह तो समय बताएगा। इस बार यशवन्त की बारी है। ऐसा नहीं कि GJM और यशवन्त सिंह GNLF और इन्द्रजीत खुल्लर की कहानी दुहराएँ? तो क्या एक बार फिर दार्जिलिंग की सीधी-सादी भावुक जनता कलकत्ते और दिल्ली की सत्ता के गलियारों की मोहरे बनेगी? गोरखालैंड का यह गोरखधंधा इस क्षेत्र की जनता के लिए काफी महंगा रहा है। क्या यह ऐसे ही चलता रहेगा और जनता पिसती रहेगी? इन प्रश्नों का उत्तर समय ही देगा।

सन्दर्भ

1. Sinha A.C., 'From Sikkim to Sukkim' Himal, Vo. 6(3), 1993
2. Sinha, A.C., Sikkim : Feudal and Democractic, Indus Publishing Co., New Delhi, 2008.
3. Subba, T.B., Ethnicity State and Development : A Case Study of Gorkhaland Movement, Har Anand Publications, New Delhi, 1992.

राष्ट्रीय काव्य-धारा और दिनकर का काव्य

कमल किशोर गोयनका*

रमेशचन्द्र शाह ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'समय संवादी' में लिखा है कि विगत कुछ दशकों से हिन्दी साहित्य में संस्कृति तथा सांस्कृतिक परिवेश को महत्त्व देने वाले लेखकों को निरन्तर हाशिये पर धकेला जाता रहा है और रचनात्मक एवं आलोचनात्मक क्षेत्रों में 'साहित्यिक विवेक' से नहीं 'मोर्चा-बुद्धि' से उसे नष्ट करने का प्रयत्न होता रहा है। संस्कृति राष्ट्र की अंतरंग चेतना है और भूमि एवं जन राष्ट्र का बहिरंग पक्ष है। राष्ट्र है तो संस्कृति है, अतः जब भी संस्कृति की बात होती है तो किसी न किसी राष्ट्र की संस्कृति की ही बात होती है। अतः रमेशचन्द्र शाह जब संस्कृति और उसके संवाहक हिन्दी लेखकों की बात कर रहे हैं तो वे वास्तव में हिन्दी के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के साहित्य और साहित्यकारों की उपेक्षा और अवमानना का ही उल्लेख करते हैं। ऐसे में रामधारी सिंह 'दिनकर' की राष्ट्रीय कविता की चर्चा हमें आश्वस्त करती है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' की राष्ट्रीय काव्य-धारा के चिन्तन एवं विवेचन के समय मैं आपको वेद-शास्त्रों तथा अन्य संस्कृत के महान ग्रन्थों की ओर नहीं ले जाऊँगा जहाँ हमें सबसे पहले राष्ट्र की कल्पना, देश भूमि से माता-पुत्र का सम्बन्ध, विचार-कर्म एवं उद्देश्यगत एकता तथा सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है और न मैं आपको मध्ययुग में विदेशी आक्रांताओं से देश की रक्षा में कटते-मरते राजपूत राजाओं की प्रशस्ति में रचे गये वीरगाथात्मक काव्य तथा उनकी राष्ट्रीय चेतना के विस्तार में ही ले जाना चाहूँगा, क्योंकि उनका राष्ट्रीय भाव सम्पूर्ण देश के लिए न होकर अपने-अपने राज्यों तक सीमित था और भूषण जैसे राष्ट्रीय कवियों की राष्ट्रीयता हिन्दुत्व की रक्षा तक ही थी। इस पर भी यह राष्ट्रीय धारा इतनी विरल थी कि रीतिकाल की सहस्रधारा में शीघ्र ही विलीन हो गयी। हमें राष्ट्रीयता का प्रथम उत्थान सन् 1857 की क्रान्ति से मिलता है, यद्यपि राजा राममोहन राय के विचारों तथा कार्यों से काफी पहले से ही देश में सांस्कृतिक जागरण आरम्भ हो चुका था। डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के इस राष्ट्रीय नवजागरण के

*ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052. मोबाइल : 98110-52469

चरण बताये हैं सन् 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम, भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग। सन् 1857 का यह संग्राम यद्यपि असफल रहा, परन्तु उसने देश में सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चेतना की एक नयी लहर उत्पन्न कर दी और स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, 'आनन्दमठ' का 'वन्देमातरम्' राष्ट्रीय गीत, बंग-भंग आन्दोलन, खुदीराम की फाँसी, गांधी के भारत आगमन आदि ने सम्पूर्ण भारत में देश-प्रेम, राष्ट्रियता, सांस्कृतिक पुनरुत्थान और एकत्व की प्रबल भावना उत्पन्न कर दी। इस नयी परिस्थिति ने, जब देश साम्राज्यवादी अंग्रेजों की दासता में जकड़ा था तथा स्वाधीन होने की चेतना अंकुरित हो रही थी, तब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में राष्ट्रीय साहित्य की नींव रखी, जबकि 'रामायण' और 'महाभारत' राष्ट्रीय एवं जातीय काव्य के रूप में समादृत थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्राचीन और नवीन के उस संक्रमण-काल में भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं, राष्ट्रियता एवं सांस्कृतिक जागरण के प्रतीक थे और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार उनके साहित्य का मुख्य स्वर देश के प्रति प्रेम, देशभक्ति एवं जाति-गौरव का था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मंडल के साहित्यकारों ने हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य-धारा की नींव रखी और जब महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी मंच पर आगमन हुआ तो युग की परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि इस राष्ट्रीय काव्य-धारा का निरन्तर विकास हुआ। विश्व रंगमंच पर सन् 1904 में जापान की रूस पर विजय, बंग-भंग आन्दोलन, होमरूल आन्दोलन तथा गांधी के असहयोग आन्दोलन ने देश में नवजागरण, राष्ट्रियता और मानवता के नवीन दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों एवं सुधार की तीव्र चेतना को विकसित करने में महान योगदान किया। हिन्दी काव्य में मैथिलीशरण गुप्त तथा कथा-साहित्य में प्रेमचंद ने इस राष्ट्रीय जागृति का नेतृत्व किया। छायावाद के आगमन से हिन्दी काव्य में व्यक्तिवाद, आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, कल्पना की अतिशयता तथा उन्मुक्त प्रेम की प्रवृत्ति का जन्म हुआ, परन्तु छायावाद भी राष्ट्रियता एवं सांस्कृतिक नवजागरण की भावना को साथ लेकर चलता रहा। छायावादी कवियों में निराला का 'भारति जय-विजय कर' गीत भारत-माता का एक सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता है, पंत ने भारत माता के कई चित्र 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में खींचे हैं तथा प्रसाद के 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' नामक प्रसिद्ध गीत में भारतीय इतिहास का गौरवपूर्ण चित्र है। इस प्रकार 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के बीच देश में जिस सांस्कृतिक नवजागरण ने जन्म लिया था, वह राष्ट्रियता से पुष्ट होता गया और 'भारत-दुर्दशा' (1880), 'सोजेवतन' (1908), 'हिन्द स्वराज्य' (1909) तथा 'भारत-भारती' (1912) आदि ग्रन्थों के द्वारा साहित्य में स्वराज्य और स्वाधीनता की जिस राष्ट्रीय भावना का जन्म और उसका विस्तार हुआ था, उसने सम्पूर्ण देश को अपने प्रभाव में ले लिया।

रामधारी सिंह 'दिनकर' का कवि के रूप में आगमन सन् 1935 में प्रकाशित उनके प्रथम कविता-संग्रह 'रेणुका' से होता है। उनके सम्मुख भारतेन्दु काल से लेकर छायावाद काल तक की काव्य-चेतना और उनकी प्रवृत्तियाँ सजीव रूप में विद्यमान थीं। वे द्विवेदी युगीन और छायावाद की काव्य-पद्धतियों का स्वयं को वारिस भी मानते थे, इसलिए उनकी काव्य-सृष्टि में हमें दोनों ही प्रकार की काव्य-रचनाएँ मिलती हैं। हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य-धारा भारतेन्दु, द्विवेदी तथा छायावादी युग में निरन्तर प्रवाहित होकर उन तक पहुँची थी। इस युग के विख्यात आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'जाति की स्वतन्त्र सत्ता', 'देशबद्ध मनुष्यत्व', 'देश के स्वरूप से परिचय', 'मूल भारतीय लक्ष्य की रक्षा', 'स्वदेशाभिमान एवं स्वदेश-प्रेम', 'अतीत की स्मृति' तथा 'विदेश की नकल' के विरोध के उल्लेख से इसी राष्ट्रीय चेतना को वाणी दी। इस राष्ट्रीय-भाव में दासता से मुक्ति के साथ सांस्कृतिक अस्मिता को अंधेरे से बाहर निकालने की प्रबल कामना भी थी और इसके लिए अतीत का गौरव-गान, देश की सजीव कल्पना, स्वदेशी एवं स्वत्व-बोध, परतन्त्रता से मुक्ति, सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा एवं भारतीयता, देश की दुर्दशा के प्रति क्षोभ और सुधारात्मकता की प्रवृत्तियाँ उसकी सिद्धि के लिए क्रियाशील थीं। दिनकर ने अपनी काव्य-यात्रा यद्यपि छायावादी मनोभावों से आरम्भ की थी, परन्तु छायावादी युग की समाप्ति के साथ ही उनकी राष्ट्रीय कविताएँ प्रकाशित होने लगीं और सन् 1940 में 'हुंकार', 1946 में 'कुरुक्षेत्र', 1952 में 'रश्मिरथी' तथा 1963 में 'परशुराम की प्रतीक्षा' प्रकाशित हुईं। असल में, इन राष्ट्रीय काव्यकृतियों के होते हुए भी हम 'दिनकर' को राष्ट्रीय धारा का ऐकान्तिक कवि नहीं कह सकते, क्योंकि उनके काव्य में प्रेम, सौन्दर्य, प्रगतिवादी आदि रचनाएँ भी बराबर मिलती हैं। हिन्दी काव्य-धारा में राष्ट्रीय चेतना की कविता लिखने वाले अधिकांश कवियों की मिश्रित अनुभूतियाँ रही हैं और जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी उनकी दृष्टि गयी है। दिनकर ने अपने इस संवेदनात्मक द्वन्द्व पर लिखा है कि मुझे राष्ट्रीयता, क्रान्ति और गर्जन-तर्जन की कविताएँ लिखते देखकर मेरे भीतर बैठे हुए रवीन्द्रनाथ दुःखी होते थे और संकेतों में कहते थे "तू जिस भूमि पर काम कर रहा है, वह काव्य के असली स्रोतों के ठीक समीप नहीं है", तब मैं 'असमय आह्वान' में 'हाहाकार' में तथा अन्य कई कविताओं में अपनी किस्मत पर रोता था कि हाय, काल ने इतना कसकर मुझे ही क्यों पकड़ लिया? मेरे भीतर जो कोमल स्वप्न हैं, वे क्या भीतर मुरझाकर मर जायेंगे?" यह अन्तर्द्वन्द्व दिनकर में रहा और 'रसवंती', 'द्वन्द्वगीत', 'उर्वशी' आदि में कोमल स्वप्नों को वाणी मिली, परन्तु उन्होंने घोषणा यही की कि वे युद्ध के चारण हैं। 'दिनकर' ने 'हुंकार' के आमुख से इसे ही स्वीकार करते हुए लिखा था :

“अमृत गीत तुम रचो कलानिधि, बुनो कल्पना की जाली,
तिमिर-ज्योति की समर-भूमि का, मैं चारण, मैं वैताली।”

देश की पराधीनता और शत्रु देश का आक्रमण किसी भी कवि को युग-चारण बना देता है। इस अर्थ में यदि देखा जाये तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक के अधिकांश हिन्दी कवि युग-चारण कहे जा सकते हैं। कवि हो या कोई अन्य रचनाकार, वह अपने समय से, अपने काल और युग-धर्म से संचालित होता है। 'दिनकर' ने लिखा है कि काल भी अपने कवि की प्रतीक्षा करता है, क्योंकि ऐसा युग-कवि अपने राष्ट्र की मूक से मूक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। यही कारण है कि पराधीनता के उस काल में दिनकर के आविर्भाव से पहले और बाद में राष्ट्रीय काव्य-धारा प्रवाहमान बनी रहती है। इसका प्रमाण है कि दिनकर की 'हुंकार' (1940) के आसपास श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दी घाटी' (1937-39), 'जौहर' (1939-44), माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिम किरीटिनी' (1942), सुभद्राकुमारी चौहान की 'झांसी की रानी', सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी' (1941), 'वासवदत्ता' (1942), 'कुणाल' (1943), 'पूजा गीत' (1945) तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की राष्ट्रीय धारा की कविताएँ तथा काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। इस काल-खंड में द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ चुका था, देश में राष्ट्रीयता की भावना तीव्र हो उठी थी, गांधी ने स्वतन्त्रता-संग्राम को आगे बढ़ाकर 'करो या मरो' का मंत्र दिया था, आज़ाद हिन्द फौज पर मुकदमा चलने लगा था, बंगाल के अकाल ने देश को कँपा दिया था और विश्व-युद्ध में रूस की विजय ने अंग्रेजों की तानाशाही के भी नष्ट होने का विश्वास उत्पन्न कर दिया था। इस राष्ट्रीय परिदृश्य में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना तथा प्रगतिवादी साहित्य की रचना-दृष्टि भी राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवियों की सर्जनात्मकता को प्रभावित कर रही थी। पं. माखनलाल चतुर्वेदी तो कवि को 'वीर' और 'योद्धा' के रूप में ही देख रहे थे :

“तम में खलबली मचाता, रे गायक! क्या तू कवि है?
दावों में तू योद्धा है, भावों में वीर सुकवि है।”

चतुर्वेदी जी के लिए तो कवि और बलिदान में कोई अन्तर ही नहीं है—“बलि और गीत, ये, युग की बीहड़ भूमि पर, एक-दूसरे के पूरक पंथी हैं।” उनकी कविताओं में राष्ट्रीयता, देशभक्ति और बलिदान की निष्ठा ज्वालामुखी के समान धधकती है। 'एक भारतीय आत्मा' के रूप में प्रसिद्ध उनके कविता-संग्रह 'युगचरण' की ये पंक्तियाँ हमें आज भी देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने को प्रेरित करती हैं :

“मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।”

अपनी मातृभूमि के लिए शीशदान की यह मनोभावना इतनी तीव्र थी कि प्रायः राष्ट्रीय धारा के प्रत्येक कवि में यह किसी-न-किसी रूप में मिलती है। सोहनलाल द्विवेदी यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु पर लिखते हैं—“बिना चढ़ाए शीश नहीं टूटेगी माँ की कड़ियाँ / दुनिया में जीने का सबसे सुन्दर मधुर तकाजा / हो शहीद! उठने दे अपना

फूलों भरा जनाजा।” सुभद्राकुमारी चौहान ने तो केवल 44 वर्ष की आयु ही पायी, किन्तु वे स्वाधीनता आन्दोलन में जेल गयीं और ‘झांसी की रानी’, ‘सेनानी का स्वागत’, ‘जलियाँवाला बाग’, ‘वीरों का कैसा हो वसंत’, ‘मातृ-मन्दिर’, ‘स्वदेश के प्रति’ जैसी देश-प्रेम एवं उत्सर्ग की कविताएँ भी लिखती रहीं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में विदेशी शासन के प्रति क्षोभ, वीरों का स्मरण तथा बलिपंथ की भावना का प्राबल्य है, किन्तु इनके अतिरिक्त उनकी काव्य-सृष्टि का एक और महत्त्व है कि वे नारी के अबलापन को त्याग कर एक सिंहनी के रूप में गर्जना करती हैं और भारत-माता की रक्षा में अपना बलिदान देने को तत्पर हैं। वे ‘मातृ-मन्दिर’ कविता में यही भावना व्यक्त करती हैं :

“मातृ-वेदी पर घंटा बजा, चढ़ा दो मुझको हे भगवान,
सुनूँगी माता की आवाज़, रहूँगी मरने को तैयार,
कभी भी उस वेदी पर देव, न होने दूँगी अत्याचार।
न होने दूँगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊँ बलिदान
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार, चढ़ा दो मुझको हे भगवान।”

इसी प्रकार श्याम नारायण पांडेय की ‘हल्दी घाटी’ और ‘जौहर’ काव्य-कृतियों ने राजपूतों के स्वातन्त्र्य-प्रेम, शौर्य, त्याग तथा आत्म बलिदान के आख्यान के द्वारा पूरे देश में राष्ट्रीय भावना का संचार किया और दासत्व के चंगुल से छूटने का संकल्प उत्पन्न किया। बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ भी राष्ट्रीय वीर-काव्य के रचनाकारों में से एक प्रमुख रचनाकार थे। रामधारी सिंह ‘दिनकर’ ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि ‘नवीन’ भारत-माता के लाड़ले लाल थे, ऐसा वीर लाल जो माता की गौरव-रक्षा के लिए कोई भी बलिदान बिना हिचकिचाहट के दे सकता था। ‘नवीन’ गांधी के स्वाधीनता संग्राम में कई बार जेल गये और लगभग नौ वर्ष की सजा भोगी। उन्होंने ‘प्रभा’ तथा ‘प्रताप’ का सम्पादन किया और उनके चन्द्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, शचीन्द्रनाथ सान्याल, अजय घोष आदि क्रांतिकारियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए। ‘नवीन’ का पहला काव्य-संग्रह ‘कुंकुम’ सन् 1936 में प्रकाशित हुआ और ‘उर्मिला’ (1950), ‘रश्मिरेखा’ (1952), ‘अपलक’ (1952), ‘विनोबा स्तवन’ (1955) आदि काव्य-संग्रह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद छपे, किन्तु उनकी राष्ट्रीय कविता में देश के उज्ज्वल अतीत का गौरव-गान, मातृ-भूमि की स्तुति, बलिदान की भावना और क्रान्ति के स्वर मिलते हैं। उनकी ‘कुंकुम’ (1936) काव्य-संग्रह की ये प्रखर राष्ट्रीयता से भरी पंक्तियाँ बहुत ही प्रसिद्ध हुईं :

“कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में जाए।”

रामधारी सिंह 'दिनकर' की राष्ट्रीय काव्य-धारा की पृष्ठभूमि में भारतेन्दु युग से लेकर छायावादी काल तक निरन्तर आने वाली राष्ट्रीय चेतना एवं बलिदानि देशभक्ति विद्यमान थी। 'दिनकर' ने आरम्भ में अवश्य ही छायावादी रंग की कविताएँ लिखीं, परन्तु उन्होंने शीघ्र ही स्वयं को छायावाद के प्रभाव से मुक्त किया। उन पर आगे चलकर प्रगतिशीलता और जनवाद का भी प्रभाव पड़ा, लेकिन वह भी पार्टी के आदर्शों के पालन के लिए न होकर राष्ट्रीय उद्देश्यों और मानवता के कारण था। 'दिनकर' की काव्य-धारा में राष्ट्रीय-काव्य की प्रवृत्ति प्रमुख है और वह उनके रचना-काल के बड़े हिस्से में फैली हुई है। 'दिनकर' के इस राष्ट्रीय काव्य की विशेषताओं की प्रकृति के विवेचन से पहले राष्ट्रीयता, राष्ट्र-प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में उनके विचारों की एक झलक ले लेना उचित होगा। 'दिनकर' अपनी धारा के उन कवियों में से एक हैं जिन्होंने अपने समय की काव्य-धाराओं तथा कवियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उनकी 'वट पीपल', 'आधुनिक बोध' आदि विचारारत्मक निबन्धों की पुस्तकों में राष्ट्रीयता तथा युद्ध और राष्ट्रीयता पर उनके विस्तृत विचार मिलते हैं। 'दिनकर' का विचार है कि अंग्रेजी दासता के विरुद्ध जब देश की जनता में एकता हुई तो राष्ट्रीयता का विकास हुआ। दासता में यदि राष्ट्रीय भावना का उदय न हो तो दासता से मुक्ति नहीं हो सकती। उनका मत है कि विदेशी राज्य के प्रति घृणा राष्ट्रीयता को पनपाती है, और ऐसी घृणा अपनी रचनात्मक शक्ति के कारण अनेक अर्थों में गुलाम देश के लिए कल्याणकारी होती है। यह राष्ट्रीयता गुलाम देशों के लिए अमृत तुल्य है क्योंकि राष्ट्रीय उत्साह के बिना न तो एकता स्थापित होती है और न स्वाधीनता का स्वप्न पूर्ण होता है। परन्तु 'दिनकर' अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्त्व देकर भी राष्ट्रीयता की उपेक्षा सहन नहीं करते। उन्होंने लिखा है कि राष्ट्रीयता की शोभा ऐसी न हो जाये जो अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा का प्रचार करे और अन्तर्राष्ट्रीयता भी ऐसी नहीं होनी चाहिए कि आप अपनी राष्ट्रीय अस्मिता तथा बिम्बों को ही विस्मृत कर दें। इसका प्रमाण हमें तब मिलता है, जब हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया और देश में गांधी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आरम्भ किया, तो हिन्दी के प्रगतिशील कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने मास्को तथा लाल सेना पर कविताएँ लिखीं। 'दिनकर' ने इसके प्रति उत्तर में दिल्ली पर कविता लिखी और लिखा कि मास्को का हम आदर करते हैं, किन्तु हमारे रक्त की एक-एक बूँद दिल्ली के लिए है। जब तक दिल्ली की जंजीरें नहीं टूटतीं, हमारे अन्तर्राष्ट्रीयता के नारे निस्सार हैं। राष्ट्रीयता को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीयता का नारा बुलन्द करना धोखा है—जहाँ मृषा सम्बन्ध विश्व मानवता से नर जोड़ रहा है / जन्मभूमि का भाग्य जगत् की नीति शिला पर फोड़ रहा है।" 'दिनकर' अपने देश की पराधीनता से व्यथित थे और उससे मुक्ति के लिए राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ा धर्म और शक्ति थी। उन्होंने 'मिट्टी की ओर' निबन्ध-संग्रह में लिखा कि हम पराधीन जाति के

सदस्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का हास होता है। राष्ट्रीयता हमारा सबसे महान् धर्म और पराधीनता हमारी सबसे बड़ी समस्या है। जो लोग हमें अन्तर्राष्ट्रीयता के भुलावे में डालकर हमारी आँखों को दिल्ली से हटाकर अन्यत्र ले जाना चाहते हैं, वे अवश्य ही हमें धोखा दे रहे हैं। इस प्रकार, यदि देश से प्रेम नहीं है और पराधीनता से मुक्ति की कोई चेष्टा नहीं है तो ऐसे व्यक्ति या कवि की अन्तर्राष्ट्रीयता की कोई अर्थ नहीं है।

‘दिनकर’ की राष्ट्रीय काव्य-धारा को दो भागों में बाँटकर देखा जा सकता है एक, पराधीनकाल की कविताएँ तथा दूसरा, स्वाधीन भारत में रची कविताएँ। देश के दासता के काल में ‘दिनकर’ की ‘रेणुका’ (1935), ‘हुंकार’ (1940), ‘कुरुक्षेत्र’ (1946), ‘सामधेनी’ (1947) आदि काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हुईं और स्वाधीनता के बाद ‘रश्मिस्थी’ (1952) तथा ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ (1963) छपीं। इन राष्ट्रीय-काव्यों में प्रमुख रूप से देश के अतीत गौरव का आख्यान है, उनका पुण्य-स्मरण है तथा उसके द्वारा अपने वर्तमान के रास्ते को प्रकाशित करना है। ‘दिनकर’ ने एक बार पंत को लिखा था—“जब भी अतीत में जाता हूँ, मुर्दों को नहीं जिलाता हूँ / पीछे हटकर फेंकता बाण, जिससे कम्पित हो वर्तमान / खँडहर हो, हो भग्नावशेष, पर कहीं बचा हो स्नेह शेष / तो जा उसको ले आता हूँ, निज युग का दिया जलाता हूँ।” इस अतीत स्मरण में परशुराम हैं, महाभारत के पात्र हैं, चन्द्रगुप्त-समुद्रगुप्त हैं, बुद्ध-अशोक और प्रताप हैं तथा हिमालय, कुरुक्षेत्र, वैशाली, चित्तौड़, कपिलवस्तु, नालंदा, गंगा आदि प्राकृतिक स्थल हैं जिनके स्मरण और वन्दना से कवि अपनी मातृभूमि की वन्दना ही करता है। ‘दिनकर’ हिमालय को सम्बोधित करते हुए ‘रेणुका’ में लिखते हैं :

“साकार दिव्य, गौरव विराट! पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिमकिरीट! मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति, मेरे विशाल!”

‘दिनकर’ की राष्ट्रीय चेतना में मातृ-भूमि की वन्दना और उसके लिए बलिदान करने की तीव्र भावना है तथा क्रान्ति एवं विप्लव का महाघोष है—“कह दे शंकर से, आज करें, वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार” तथा “क्रान्ति-क्रान्ति कविते / जागो आडम्बर में आग लगा दें।” कवि की यह हुंकार देश में व्याप्त शोषण और अत्याचार को भस्म करने के लिए है। दिनकर की राष्ट्रीयता में जो यह प्रगतिशीलता का नया स्वर है, वह सामाजिक असमानता से उत्पन्न होती है। ‘दिनकर’ इस असमानता का मार्मिक चित्र खींचते हुए ‘हुंकार’ में लिखते हैं :

“स्वानों को मिलते दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच अब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।

‘दिनकर’ की राष्ट्रीय चेतना बार-बार लोकमंगल और मानवता की ओर अग्रसर होती है, क्योंकि वे एक ओर देश की स्वाधीनता चाहते हैं और दूसरे वे स्वाधीन भारत में विकास के साथ दीन-दुःखियों का भी कल्याण चाहते हैं।

‘दिनकर’ की राष्ट्रीय काव्य-धारा में उनकी युद्ध सम्बन्धी काव्य-रचनाओं का विशेष महत्त्व है। वे स्वयं को युग-चारण कहते हैं, परन्तु इन युद्ध सम्बन्धी काव्य-कृतियों से लगता है कि वे योद्धा-कवि हैं और जब-जब देश के सम्मुख युद्ध आ खड़ा होता है, उनके युद्ध-गीत जन्म लेने लगते हैं। ‘दिनकर’ ने लिखा भी है—“जितनी ही फैलती देश में भीति युद्ध की / मैं उतना ही कण्ठ फाड़, कुछ और जोर से / चिल्लाता, चीखता, युद्ध के अंध गीत गाता हूँ।” ‘दिनकर’ की मान्यता है कि युद्ध आपद्धर्म है। युद्ध के उन्माद में डूबे देश शान्तिप्रिय देशों पर युद्ध थोपते हैं और जब युद्ध द्वार पर हो तो युद्ध से घृणा करने वालों को भी लड़ना पड़ता है। युद्ध राष्ट्रीयता में वृद्धि करता है, क्योंकि राष्ट्रीय भावना ही युद्ध में जीत दिलाती है। युद्ध में पूँजीवादी या साम्यवादी कोई भी देश हो, वह राष्ट्रीय हितों को प्रधानता देता है। अतः विचारधारा राष्ट्रीयता को नहीं मार सकती। भारत तो बुद्ध, अशोक और गांधी का देश होने के कारण अहिंसा को परम-धर्म मानता है, परन्तु हिंसक तथा आक्रमणकारी पड़ोसियों के विरुद्ध उसे भी शस्त्र उठाने पड़े और युद्ध में कूदना पड़ा। चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो गांधी की सीख को भुलाना पड़ा। ‘दिनकर’ की दृष्टि सबसे पहले सम्राट अशोक की कलिंग-विजय पर जाती है जिसके बाद उसमें निर्वेद उत्पन्न हुआ। कवि को प्रतीत हुआ कि युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ है। कवि ‘कलिंग-विजय’ कविता में कहता है कि प्रभु की इस सृष्टि में प्रजा का एक-सा स्वत्व और अधिकार है, किन्तु जब कोई तलवार के बल से दूसरों के प्राकृतिक अधिकार छीनता है और भगवान बनना चाहता है तो मनुष्य का खून बहता है और युद्ध के बाद चारों ओर शोक, पराजय और वैधव्य का अन्धकार छा जाता है। अशोक भी व्यथा, परिताप और पश्चात्ताप से ग्रसित होता है और उसके मन में करुणा का दीप जलता है

“शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्म बल संसार,
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।
हो नहीं मुझ को किसी पर रोष,
धर्म का गूँजे जगत् में घोष।”

‘कुरुक्षेत्र’ काव्य की रचना तो युद्ध के पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, कारण-परिणाम तथा युद्धान्त के बाद होने वाली परिणति पर ही लिखा गया है। ‘कुरुक्षेत्र’ एक युद्ध-काव्य ही है जिससे महाभारत के कथानक और पात्रों के युद्धोन्माद और उनके युद्ध-चिन्तन से कवि अपने युग को कुछ सन्देश देना चाहता है। ‘कुरुक्षेत्र’ का कवि का मानना है कि देश की जनता जब अनीति, अन्याय, शोषण का शिकार होती है तो युद्ध अनिवार्य होता है। जो न्याय को चुराता है, वही रण को बुलाता है, अतः जब

प्रश्न देश का हो, समाज का हो तो धर्म, तप, करुणा, क्षमा आदि सब का त्याग करना पड़ता है

“छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।”

‘दिनकर’ युद्ध की छाया में ‘कुरुक्षेत्र’ काव्य में एक सामाजिक दर्शन देते हैं जिसमें मनुष्य की स्वार्थपरता, भोगवाद, राजा-प्रजा में भेदभाव, भाग्यवाद तथा शोषण का विरोध है और मानवीयता की स्थापना है। कवि चाहता है कि ऊँच-नीच का भेद समाप्त हो तथा धर्म-नीति का अनुपालन हो। वह तो सम्पूर्ण धरा के सुख की कामना करता है और ‘कुरुक्षेत्र’ के अन्त में कवि आशा का दीप जलाकर युधिष्ठिर को सम्बोधित करके ये पंक्तियाँ लिखता है :

“आशा के प्रदीप को चलाये चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से,
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा, किसी मानव का जीत से,
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

‘दिनकर’ ने युद्ध को ‘ध्वंस का विस्फोट’ कहा था। युद्ध घृणित कर्म है, विभीषिका है, मानवता का पतन है, तब क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे युद्ध जीवन के विरुद्ध नहीं, मृत्यु के खिलाफ लड़ा जाये? इसी कारण ‘दिनकर’ अपने युद्ध-दर्शन में युद्ध को ही हटा देना चाहते हैं और वे ‘नये धर्म-प्रदीप’ की कल्पना करते हैं। वे मानते हैं कि युद्ध आपद्धर्म होता है और चीनी आक्रमण के समय वे इसे ही सत्य पाते हैं। उनके ‘नये धर्म-प्रदीप’ की कल्पना ध्वस्त हो जाती है और वे देश की रक्षा के निमित्त गांधी की अहिंसा का परित्याग करके युद्ध के मैदान में परशुराम की प्रतीक्षा करते हैं। चीनी आक्रमण उन्हें एक बार फिर राष्ट्रीय चैतन्य तथा देश में वीर-भव की सृष्टि के लिए युद्ध का कवि बना देता है। ‘दिनकर’ इस राष्ट्रीय संकट पर परशुराम को नया अवतार बनाते हैं :

“मुख में वेद, पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार,
सावधान! ले रहा परशुधर फिर नवीन अवतार।”

कवि के राष्ट्र एवं युद्ध-दर्शन में जो भीरु है, वीरता शून्य है, वही पापी है। वह देश के 'क्लीव धर्म' की कटु आलोचना करता है और बन्दा वीर, लक्ष्मीबाई, नेताजी, आजाद, टीपू सुल्तान, भगतसिंह और योगी-ऋषियों आदि सभी को याद करके मरण के मुख पर ही चरण रखने का आह्वान करता है :

“छोड़ो मत अपनी आन, सीस कट जाये,
मत झुको अनय पर, भले व्योम फट जाये।
दो बार नहीं यमराज कंठ धरता है,
मरता है जो, एक ही बार मरता है।
तुम स्वयं मरण के मुख पर चरण धरो रे,
जीना हो तो मरने से नहीं डरो रे।”
सिर देने में जो लोग नहीं डरते हैं,
वे ही प्रभंजनों पर शासन करते हैं।

कवि का दृढ़ मत है कि शस्त्र से ही शास्त्र की रक्षा होती है। जब धनुर्धर राम पहरे पर खड़े होते हैं तभी ऋषियों को सिद्धि मिलती है, शान्तिवादियों के कपोतों में तो धोखा और छल ही छिपा होता है। इसलिए कवि बुद्ध, अशोक और गांधी की रक्षा के लिए उनसे भागने और बम-गोली बरसाने के लिए कहता है :

“गिराओ बम, गोली दागो।
गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो।”

‘दिनकर’ युद्ध में पराजय को सबसे बड़ा पाप मानते हैं “समर हारने से बढ़कर घातक न दूसरा पाप है”, इसलिए वे देश की रक्षा और जीत के लिए गांधी के अहिंसक मार्ग को निरर्थक मानते हैं, परन्तु ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ की अन्तिम कुछ पंक्तियों में वे गांधी-नेहरू के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। वे ‘इतिहास का न्याय’ कविता में कहते हैं कि गांधी, बुद्ध और अशोक भारत के दिव्य-स्वप्नों के प्रतीक हैं और ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ की कविता ‘समरशेष है’ में वे देश में गांधी-जवाहर के समय को पुनः लाना चाहते हैं “समर शेष है, शपथ धर्म की, लाना है वह काल, विचरें अभय देश में गांधी और जवाहर लाल।” इस कविता में ‘दिनकर’ देश के अन्दर के युद्ध पर विचार करते हैं। यह स्वतन्त्र भारत की जनता का समर है, जो स्वतन्त्रता के बाद भी विषमता, अन्धकार और उपेक्षा में जी रही है, जबकि दिल्ली में सारी समृद्धि और भोग-विलास एकत्र हो गया है और जिसने जनता के सारे भाग दबा रखे हैं। कवि मानता है कि इसके लिए वे ही अपराधी नहीं हैं जो जनता के अधिकारों का अपहरण कर रहे हैं, बल्कि वे भी हैं जो तटस्थ होकर उस सारे पाप-कर्म को देख रहे हैं :

“समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।”

‘दिनकर’ की राष्ट्रीय काव्य-धारा के इस विवेचन से कुछ निष्कर्ष निकलते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के बाद ‘दिनकर’ हिन्दी के सबसे बड़े, सशक्त और ओजस्वी राष्ट्र-कवि हैं। वे केवल युग-चारण नहीं हैं, वे राष्ट्र-प्रहरी और योद्धा कवि हैं। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा को नयी ऊँचाइयों, नयी संवेदनाओं तथा नये विचार-पक्ष से सम्पन्न करने का श्रेय उन्हें ही है। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देश-प्रेम तथा राष्ट्रोत्थान एवं राष्ट्रीय जागृति से लेकर छायावादी राष्ट्रीयता को आत्मसात् किया और राष्ट्रीय काव्य-धारा को नीरस उपदेशों एवं प्रवचनों से मुक्त करके उसे अनुभूतिपूर्ण बनाकर युग की जागरण काव्य-धारा के रूप में परिवर्तित कर दिया। उनके लिए राष्ट्र, राष्ट्रोत्थान और राष्ट्रीयता का सर्वोपरि महत्त्व था, चाहे गांधीवाद हो या साम्यवादी प्रगतिशीलता अथवा वैश्विकता, सभी राष्ट्रीय हितों पर समर्पित थे। उनके राष्ट्रीय काव्य में धनुर्धर राम का जो बिम्ब है, वह धनुर्धर भारत का ही प्रतीक है। राष्ट्र की रक्षा अहिंसा, क्षमा, दया से न होकर शस्त्र-बल से ही हो सकती है। ‘दिनकर’ के लिए युद्ध आपद्धर्म है। देश पराधीन हो या विदेशी आक्रमण का शिकार हो, युद्ध को जीतना सबसे बड़ा पुण्य है। ‘दिनकर’ एक युद्ध स्वाधीन भारत में भी देख रहे थे कि जनता कैसे अपने शासकों से पीड़ित तथा शोषित है, परन्तु वे घर के इस मोर्चे पर हारे-थके, हताश-व्यथित बने रहे और इसी मनःस्थिति में उन्होंने ‘हारे को हरि नाम’ (1970) काव्य-कृति की रचना की। आज तो देश की स्थिति ‘दिनकर’ के समय से भी भयानक है। देश के अन्दर और बाहर के शत्रु इसकी एकता और राष्ट्रीय स्वरूप को छिन्न-भिन्न करना चाहते हैं और ‘दिनकर’ के समान कोई कवि यह कहने का साहस नहीं कर पा रहा कि “अपने समय का सूर्य हूँ मैं” तथा “सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।” क्या आज के कवि में ‘दिनकर’ जैसी राष्ट्रीय चेतना ही नहीं है जो उसे राष्ट्र का सूर्य बना सके, अथवा परशुराम और धनुर्धर राम के राष्ट्रीय बिम्ब उसकी अन्तश्चेतना से अदृश्य हो गये हैं? देश के सम्मुख ऐसे अभूतपूर्व संकट के समय यदि हमारा कवि अपने राष्ट्रीय धर्म से विमुख होकर सोया रहा तो क्या भारतीय लोक-मानस उसे क्षमा कर सकेगा? देश की जनता बड़ी आतुरता के साथ किसी परशुराम, किसी धनुर्धर राम अथवा किसी राष्ट्रीय महानायक की प्रतीक्षा में है। आखिर यह जनता अपने समय के सूर्य की कब तक प्रतीक्षा करेगी? निराला के शब्दों में—“इस गगन में नहीं दिनकर / नहीं शशधर, नहीं तारा।” पर कब तक ऐसा होगा?

भारत में अध्यापक शिक्षा : नये परिप्रेक्ष्य

अजय कुमार सिंह

किसी भी देश के भाग्य का निर्माण शिक्षा के द्वारा कक्षाओं में होता है। आदि काल से ही शिक्षा मानव के विकास का सर्वाधिक सशक्त साधन रही है। आज के वैज्ञानिक एवं तकनीकी युग में यह संकल्पना और अनिवार्य हो गई है। समय और काल के आधार पर मानवीय एवं जीवन मूल्यों को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा में आयी गुणवत्ता निश्चित रूप से बालक एवं व्यक्ति को वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुकूल विकास कराती है, अन्यथा पूरी सामाजिक संरचना दिग्भ्रमित हो जाती है। शिक्षा का दायित्व किसी एक का नहीं बल्कि व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का सम्मिलित एवं समन्वित रूप से है। 'शिक्षा' की शाब्दिक व्युत्पत्ति संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है - सीखना और सीखाना। इसमें दो पक्ष हैं- प्रथम 'सीखना' जिसका सम्बन्ध शिक्षार्थी (सीखने वाला) से है और द्वितीय 'सीखाना' जिसका सम्बन्ध शिक्षक या अध्यापक (सीखाने वाला) से है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा प्रक्रिया का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष अध्यापक है, जो इस प्रक्रिया को न केवल गति देता है बल्कि शिक्षार्थी में अपेक्षित योग्यताओं के विकास व उनके चरित्र-निर्माण एवं इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संस्कृत में कहा गया है कि "आचरति इति आचार्य" अर्थात् जिसका आचरण किया जाय वह आचार्य है। अध्यापक शिक्षण प्रक्रिया का सच्चा सूत्रधार है। शिक्षक के व्यक्तित्व का बालकों के ऊपर अमिट प्रभाव पड़ता है और वह उनके भावी जीवन की नींव रखता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 में शिक्षक के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है "किसी समाज में अध्यापक का दर्जा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक लोकाचार को प्रतिबिम्बित करता है..... एवं कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता।"

आज के बदलते समय के साथ अध्यापक शिक्षा का संप्रत्यय भी बदला है। पहले जहाँ अध्यापक प्रशिक्षण की धारणा थी वहीं आज उसके स्थान पर 'अध्यापक

* डॉ. अजय कुमार सिंह, प्रवक्ता एवं अध्यक्ष, शिक्षा विभाग (बी.एड.), महाराणा प्रताप राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जिला-हरदोई (उत्तर प्रदेश)

शिक्षा' की धारणा बलवली हुई है क्योंकि आज प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापकों का व्यवहार 'शिक्षित अध्यापक' की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। शिक्षा की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है, प्रशिक्षण तो उसका एक अंग मात्र है। दूसरी तरफ अध्यापक की जिम्मेदारी भी व्यापक एवं गुरुतर है जिसके निर्वहन की योग्यता का विकास उनके प्रशिक्षण मात्र से नहीं हो सकता। अतः 'अध्यापक शिक्षा' के द्वारा ऐसे अध्यापक को विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें तात्कालिकता, स्वीकृति, सृजनात्मकता व आत्म-अनुभव के गुण हों एवं इसका मुख्य कार्य अध्यापकों के लिए उनकी प्रज्ञा में सुधार व उनकी तकनीकी क्षमताओं का विकास भी है। आज अध्यापक शिक्षा की आधारभूत धारणा इस प्रकार है :

(1) अध्यापक शिक्षा इस बात पर बल देती है कि उसके पाठ्यक्रम में अध्यापक केन्द्र बिन्दु होना चाहिए।

(2) निम्नलिखित तत्व अध्यापक शिक्षा का केन्द्र निर्माण करेंगे-(i) भावी अध्यापकों को इस तत्व से परिचित कराना चाहिए कि अध्यापक का व्यवहार कैसा एवं क्यों हो? इन प्रश्नों के उत्तर मनोविज्ञान, प्रशिक्षण शास्त्र एवं समाजशास्त्र के आधार पर दिए जायें। (ii) भावी अध्यापक को सामाजिक परिवर्तन का घटक, विद्यार्थियों का नेता एवं समाज का पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। (iii) भावी अध्यापक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और उसे अपने विषय में शिक्षण विधि का विशेषज्ञ होना चाहिए।

(3) सभी स्तरों पर अध्यापक शिक्षा को निम्नलिखित तत्वों पर बल देना चाहिए : (i) प्रशिक्षण सम्बन्धी पाठ्यवस्तु, (ii) समुदाय के साथ कार्य एवं (iii) विषयवस्तु, विधि सम्बन्धित पाठ्यवस्तु एवं अभ्यास शिक्षण पाठ्यवस्तु।

(4) समुदाय के साथ कार्य करते हुए सम्पूर्ण अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम में शास्त्र एवं विधि सम्बन्धी भाग एक स्तर से दूसरे स्तर तक परिवर्तित हों।

(5) अध्यापक शिक्षा के सभी स्तर ऐसे अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम को विकसित करने में सहायक होंगे जो वातावरण, वैयक्तिक भिन्नताओं तथा सामाजिक आवश्यकता को निश्चित करे।

(6) अध्यापक शिक्षा इस बात पर बल देती है कि प्रत्येक स्तर पर अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम का निरूपण बच्चों के विकास एवं देश के उद्देश्यों के सन्दर्भ में करना चाहिए।

(7) जबकि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य निर्माण करना है तब अध्यापक शिक्षा मनुष्य निर्माण की प्रक्रिया को निश्चित करती है।

अध्यापक शिक्षा में दो प्रकार के पाठ्यक्रमों को सन्निहित करना चाहिए : विषय सम्बन्धी एवं विधि सम्बन्धी पाठ्यवस्तु। विषय सम्बन्धी पाठ्यवस्तु में सीखने के अनुभव हों जो शिक्षण विषय से सम्बन्धित हों। विधि सम्बन्धी पाठ्यवस्तु में दो

प्रकार के कौशलों का विकास करना चाहिए : (1) अध्यापक शिक्षा के सभी स्तरों के लिए सामान्य निर्णय कौशल, (2) विशेष शिक्षण कौशल।

एक अध्यापक को समाज की आवश्यकताओं पर ध्यान देना चाहिए एवं जिस समुदाय में वह रहता है, उसके सामाजिक कौशल का ज्ञान उसे होना चाहिए जिससे सामुदायिक विकास एवं वांछनीय सामाजिक परिवर्तन लाने में उसे सहायता मिले। अध्यापक शिक्षा के अभिन्न अंगों के परिणामस्वरूप भावी अध्यापक कक्षा-कक्षा की स्थितियों में बाहर एवं अन्दर कार्य करते हैं। वे वैज्ञानिक ज्ञान, धनात्मक दृष्टिकोण एवं तकनीकों का प्रयोग करते हैं ताकि सीखने के व्यवहार को और अधिक संशोधित करें तथा सीखने वाले की वास्तविक क्षमताओं का प्रयोग कर सकें। साथ ही साथ अध्यापक शिक्षा प्रक्रिया में लचीलापन, मानवीयता तथा अन्तःअनुशासन होना चाहिए।

इसमें कोई दो राय नहीं कि एक अध्यापक में ये योग्यताएँ होनी ही चाहिए। अध्यापकों में वांछित योग्यताओं के बारे में गांधी जी का कथन है “हमें असली जरूरत ऐसे शिक्षकों की है जिनके विचार मौलिक हों, जिनमें सच्चा उत्साह और जोश हो और जो हर रोज यह सोच सकें कि आज विद्यार्थी को क्या सिखाया जाए। शिक्षक को यह ज्ञान पुरानी पोथियों से नहीं मिलेगा। उसे अपनी निरीक्षण और विचार करने की शक्ति का उपयोग करना है और उसका अर्थ यह है कि शिक्षा पद्धति में क्रान्ति आनी चाहिए।” प्रश्न यह है कि इस क्रान्ति की या अध्यापक शिक्षा के विकास की योजना क्या है और उस योजना का प्रभावी क्रियान्वयन किस प्रकार होगा? खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि योजनाओं का बेहतर तथा प्रभावी तरीके से क्रियान्वयन नहीं हो पाया है या हो पा रहा है। जबकि निश्चित रूप से किसी राष्ट्र की प्रगति उसके अध्यापकों पर निर्भर करती है, क्योंकि बालकों में वांछित योग्यताओं, कुशलताओं, गुणों के विकास में अध्यापक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथ ही उतना ही महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है स्वयं अध्यापकों में उन गुणों, योग्यताओं, कुशलताओं का मौजूद होना। जब तक वह स्वयं अध्यापक सुयोग्य, उनमें कुशल तथा अपने व्यवसाय के प्रति समर्पित नहीं होगा तब तक वह बच्चों की योग्यता, उनमें कुशलता का विकास कैसे कर पायेगा? इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रायः सभी आयोगों, समितियों या विद्वानों ने समय-समय पर विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के अध्यापक शिक्षा/प्रशिक्षण कार्यक्रमों के आयोजन/क्रियान्वयन की सिफारिशें की हैं।

भारत में आजकल अध्यापक शिक्षा के विकास, स्तरोन्नयन व सुधार तथा अध्यापक शिक्षा को बदलती परिस्थितियों में देश समाज की आवश्यकता के अनुरूप बनाने की दिशा में कई संस्थाएँ कार्यरत हैं। इनमें राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (जो भारत सरकार का एक विधिक संस्थान है) भी निरंतर संलग्न है। परिषद द्वारा प्रस्तावित ‘टीचर प्रोफाइल’ में अध्यापक के लिए निम्नलिखित क्षमताओं तथा योग्यताओं पर विशेष ध्यान देने की बात कही गयी है :

- (i) शिक्षण कार्य में सक्षमता, प्रतिबद्धता एवं शिक्षण कार्य से जुड़ी आचार संहिता के आंतरिक व वाह्य मूल्यों को जागृत करना।
- (ii) सृजनात्मक तथा पुनर्नवीतत्वज्ञान।
- (iii) ज्ञानार्जन के विभिन्न संसाधनों का चयन, व्यवस्थापन एवं उनका समुचित उपयोग करना।
- (iv) पाठ्यक्रम का प्रभावपूर्ण निष्पादन, शिक्षार्थियों की विशेष आवश्यकताओं के अनुरूप शैक्षणिक गतिविधियों और कार्यक्रमों का चयन और उनका व्यवस्थापन करना।
- (v) मीडिया एवं उपयुक्त शैक्षणिक तकनीकों का उपयोग करना।
- (vi) निरन्तर और परिवर्तन की चुनौतियों के प्रति प्रभावी सम्प्रेषणीयता तथा प्रतिक्रिया देना।
- (vii) छात्रों को उनके व्यक्तित्व विकास, विभिन्न परिस्थितियों में समायोजन और अधिक से अधिक ज्ञानार्जन हेतु परामर्श देना।
- (viii) निरन्तर शोध करते रहना विशेषतया व्यावहारिक शोध करना और नवोन्मेष पद्धतियों का सृजन करना।
- (ix) छात्रों हेतु विभिन्न गतिविधियों का आयोजन करना।
- (x) उपयुक्त निर्णय क्षमता, प्रतिबद्धता एवं सम्प्रेषणीयता के नैतिक मूल्यों का बोध कराना।
- (xi) संस्कृति एवं शिक्षा और संस्कृति एवं व्यक्तित्व के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने की समझ विकसित करना।
- (xii) आजीवन ज्ञानार्जन की रुचि विकसित करना।
- (xiii) समाज की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को समझना एवं विद्यालय एवं समाज के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने में सहयोग प्रदान करना।
- (xiv) आधुनिकीकरण और विकास के लिए परिवर्तनकारी अभिकर्ता (चेंज एजेन्ट) के रूप में कार्य करना।

अतः भावी अध्यापकों के लिए शैक्षणिक कार्यक्रमों को तदनुसार ही बनाए जाने की आवश्यकता है, जिससे उनमें वांछित सामर्थ्य एवं सक्षमता विकसित की जा सके।

आज परिषद अध्यापक शिक्षा की नई आकृति प्रदान करने/पुनर्कल्प या जीर्णोद्धार करने की दिशा में कार्यरत है; परिषद अपने स्तर पर अध्यापक शिक्षा के स्तरोन्नयन एवं सुधार हेतु निरन्तर संलग्न तो है किन्तु यहाँ शिक्षा आयोग (1964-66) की एक टिप्पणी भी उल्लेखनीय है- “स्कूल की प्रतिदिन की समस्याओं के समान प्राथमिक एवं माध्यमिक अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण संस्थाएँ विश्वविद्यालय की शैक्षणिक जीवन की मुख्य धारा से भिन्न एवं कटी हुई है। कुछ अपवादों के साथ प्रशिक्षण संस्थाओं का स्तर या तो मध्यम या निम्न स्तर का है। योग्य अधिकारियों के

समूह की कमी, पाठ्यक्रम में यथार्थवाद की कमी और मुख्य रूप से परम्परागत कार्यक्रम एवं शिक्षण अभ्यास की कठोर तकनीकियों को ग्रहण किया जाता है और वर्तमान आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों को उपेक्षित किया जाता है।” राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद के वजूद में आने के बाद यह उम्मीद बंधी थी कि अध्यापक शिक्षा के स्तर पर व्यावहारिक धरातल पर अवश्य गुणात्मक सुधार होगा। बहुत हद तक सुधार हो भी रहा है किन्तु वर्ष 1966 में जिस समस्या का उल्लेख शिक्षा आयोग ने किया था वह कमोवेश आज भी मौजूद है। परिषद द्वारा मान्यता प्राप्त जो अध्यापक शिक्षा संस्थाएँ हैं, उनमें से अनेक में अनेक समस्याएँ आज भी विद्यमान हैं, जिनका निराकरण किए बिना वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति असम्भव होगी।

वर्तमान में दो प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ चल रही हैं। पहला, सरकारी व अनुदानित संस्थाओं और दूसरा, स्ववित्तपोषित संस्थाओं में। वास्तव में गुणवत्ता के मानक एक समान होने चाहिए लेकिन व्यवस्था में भिन्नता के कारण गुणवत्ता की स्थापना में निःसन्देह कहीं न कहीं कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। यदि समय रहते उनमें सुधार न हुआ तो शिक्षा अपने सकारात्मक दिशा से भटक जाएगी।

शिक्षक-शिक्षा में प्रशिक्षणार्थियों के चयन के लिए प्रवेश परीक्षाओं का आयोजन कराया जाता है। उत्तम विकल्प होने के बावजूद आज प्रवेश परीक्षाओं की पवित्रता संदिग्ध हो गई है। कई विश्वविद्यालयों द्वारा प्रवेश परीक्षा को निरस्त करके उसे पुनः कराना पड़ा जो इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। ऐसी स्थिति में जब अच्छा छात्र प्रवेश से वंचित हो जाता है एवं अनुचित रास्ते से कमजोर छात्र प्रवेश पा जाता है तो शिक्षक-शिक्षा में गुणवत्ता की बात करना बेमानी हो जाती है। आज स्ववित्तपोषित शिक्षक-शिक्षा महाविद्यालयों में प्रबन्धकीय व्यवस्था के तहत प्रवेश में अनियमितता पायी जा रही है।

शिक्षा में गुणवत्ता बनाए रखने के लिए हर स्तर पर शिक्षक छात्र का उचित अनुपात होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक शिक्षा संस्थाओं में यह अनुपात एन.सी.टी.ई. ने 1:10 (स्ववित्तपोषित संस्थाओं में 7 शिक्षक पर 100 सीट) निश्चित किया है। अनुदानित संस्थाओं में यह मानक तो काफी हद तक पालन हो रहा है जबकि प्रायः स्ववित्तपोषित संस्थाओं में दो या तीन ही अध्यापक कार्यरत हैं वे भी या तो योग्यता पूरी नहीं रखते या वे एक से अधिक जगह कार्यरत हैं जबकि स्ववित्तपोषित संस्थाओं की संख्या अनुदानित से काफी अधिक है। प्रशिक्षण संस्थाओं में मानक के अनुरूप शिक्षकों का न होना शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता के लिए एक विचारणीय प्रश्न है।

सामान्य शिक्षा हो अथवा शिक्षक-शिक्षा, इनकी कक्षाएं वर्ष में कम से कम 180 कार्य दिवस चलनी चाहिए। एन.सी.टी.ई. ने शिक्षक-शिक्षा के लिए न्यूनतम 200 कार्य दिवस निर्धारित किया है। शिक्षक-शिक्षा में प्रवेश इतने विलम्ब से होता है कि 180

या 200 दिन को कौन कहे 100 कार्य दिवस भी पूर्ण नहीं हो पाता है। स्ववित्तपोषित संस्थाएं इस परिधि में अधिक आती हैं। इन संस्थाओं में नियमित शिक्षक वेतन के अभाव में उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, जिसकी पूर्ति हुए बिना उन्हें प्रवेश हेतु छात्र नहीं मिलते। इनका समाधान जब तक गम्भीरता से नहीं होगा तब तक नियत अवधि तक कक्षाएं नहीं चल सकेंगी और गुणवत्ता बाधित होती रहेगी। वर्तमान में यह समस्या विकट है।

शिक्षक-शिक्षण संस्थाओं में प्रशिक्षणार्थियों की उपस्थिति में कमी देखी जा रही है। प्रशिक्षणार्थी प्रवेश परीक्षोपरान्त प्रयासरत रहता है कि किस संस्था में प्रवेश लिया जाए जहाँ बिना एक दिन गए व मेहनत किए सैद्धान्तिक एवं अभ्यास शिक्षण की पद्धतियों की परीक्षाओं को दिया जा सके और अच्छा अंक पाया जा सके। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रायः ऐसे छात्र नियमित छात्रों से बेहतर श्रेणी पाने में सफल हो जाता है क्योंकि निःसंदेह आज ऐसी अनेकानेक प्रशिक्षण संस्थाएं विद्यमान हैं जो अपने अनैतिक लाभ के लिए इस तरह की सुख-सुविधाएं देकर शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता को रसातल में पहुंचा रही हैं।

एन.सी.टी.ई. शिक्षण अभ्यास के लिए सम्बद्ध विद्यालयों में कम से कम 40 दिन के लिए प्रशिक्षणार्थियों को भेजने का सुझाव देता है, ताकि वहाँ जाकर छात्राध्यापक अभ्यास के साथ-साथ विद्यालय के अन्य क्रिया-कलापों में भी दक्षता हासिल कर सके। इन समस्त कार्यों का मूल्यांकन शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालय के शिक्षकों द्वारा कुशलता-पूर्वक किया जाए। लेकिन शिक्षक कभी-कभी उपेक्षापूर्ण ढंग से कार्यों की निगरानी करता है। शिक्षक-शिक्षा में सैद्धान्तिक ज्ञान अपरिहार्य है जिसमें छात्र वास्तविक कक्षाओं में जाकर 40 पाठ योजनाओं को बनाकर शिक्षण अभ्यास करता है, जिससे छात्र सभी कौशलों का कक्षा कक्ष में प्रयोग कर सके। आज प्रायः शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं में छात्र एवं शिक्षक दोनों स्तरों पर अनियमितता पायी जा रही है।

वर्तमान में उपाधि प्रदान करने हेतु परीक्षा एक समस्या बनी हुई है क्योंकि नकल विहीन परीक्षा सम्पन्न कराना विश्वविद्यालय प्रशासन के लिए एक टेढ़ी खीर है जिससे सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक दोनों ही परीक्षाएं प्रभावित हो रही हैं। प्रभाववाद अनेकमुखी है। साथ ही साथ मूल्यांकन कार्य पर भी प्रश्न चिन्ह लगा है क्योंकि आज सभी विश्वविद्यालयों द्वारा केन्द्रीय मूल्यांकन कराया जा रहा है जिसमें प्रतिदिन 75 से 100 कापियां मूल्यांकन के लिए दी जाती हैं जो वास्तव में बहुत अधिक एवं औचित्यपूर्ण नहीं है।

अध्यापकों का निर्माण अर्थात् शिक्षित/प्रशिक्षित करने वाले अध्यापकों की भूमिका सामान्य अध्यापकों से भी कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ये उन अध्यापकों को तैयार करने में लगे हैं जो विद्यालयों में (जहाँ भारत के भाग्य/भविष्य का निर्माण

हो रहा है) देश के भावी कर्णधारों को शिक्षित करेंगे। इनकी स्थिति, योग्यता, दक्षता, इनकी शिक्षा व्यवस्था, इनकी सेवा शर्तों, सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों आदि महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गम्भीरतापूर्वक विचार की आवश्यकता है।

जब अध्यापक प्रशिक्षक स्वयं शिक्षण की नयी तकनीकों से विधिवत् परिचित नहीं होगा, वह अपने प्रशिक्षणार्थी अध्यापकों में तकनीकी कौशल का विकास कैसे कर पायेगा? नयी तकनीकों से परिचित कराने, अध्यापकों के बेहतर व्यावसायिक विकास तथा शिक्षा में नवाचार हेतु पुनश्चर्या, अभिनवीकरण एवं अन्य विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन तो काफी पहले से ही किया जा रहा है किन्तु आज भी देश में अनेक ऐसी संस्थाएँ हैं जिनमें कार्यरत अनेक अध्यापक प्रशिक्षक परम्परागत विधियों से ही अपने प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षित करने को अभिशप्त हैं। परिणामस्वरूप आज वे बदलती परिस्थितियों के अनुरूप शिक्षा की मुख्य धारा से कहीं दूर हैं। क्या अध्यापक-शिक्षा से सम्बद्ध विभिन्न संस्थाएँ इस दिशा में कोई प्रभावी कदम उठायेंगी? अध्यापक को पथ-प्रदर्शक माना गया है। पथ-प्रदर्शक वह है भी। किन्तु जब वह स्वयं मार्ग में उलझा हुआ होगा तो दूसरों को मार्ग कैसे दिखायेगा? अध्यापक शिक्षा के नीति-निर्धारकों एवं नियामकों को उपरोक्त समस्त समस्याओं को ध्यान में रखनी होगी तथा तदनु रूप प्रभावी कदम भी उठाने होंगे। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं :-

- (i) सभी अध्यापक-शिक्षा संस्थाओं में शिक्षक-छात्र अनुपात 1:10 का होना चाहिए।
- (ii) अध्यापक प्रशिक्षण की अवधि बढ़ायी जाए।
- (iii) स्ववित्तपोषित योजना के अन्तर्गत विभिन्न विश्वविद्यालयों/संस्थाओं द्वारा चलाये जा रहे अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों पर रोक लगायी जाय तथा अध्यापक शिक्षा के व्यापारीकरण (कमर्शियलाइजेशन) जो अभी भी मौजूद है, पर प्रभावी रोक लगायी जाय।
- (iv) पत्राचार पाठ्यक्रमों द्वारा अध्यापक शिक्षा (कम से कम प्राथमिक व माध्यमिक स्तर की) पर प्रभावी रोक लगायी जाय।
- (v) प्रत्येक अध्यापक विशेषतः अध्यापक प्रशिक्षकों के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाय तथा इनमें उनकी सहभागिता अनिवार्य बनायी जाय।
- (vi) सेवारत अध्यापकों के लिए एक निश्चित अन्तराल पर प्रवीणता परीक्षाएँ (proficiency tests) आयोजित की जाय तथा इनके आधार पर ही इन्हें पदोन्नति या वेतनवृद्धि दी जाय।
- (vii) अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रम के सैद्धान्तिक विषयों में विषयवस्तु की पुनरावृत्ति (repetition of contents) दूर की जाय तथा सैद्धान्तिक विषय-वस्तु को कम भी किया जाएँ।

- (viii) अध्यापक शिक्षा संस्थाओं में परीक्षा हर परिस्थिति में कम से कम 200 दिन कक्षाएं संचालित होने पर ही सम्पन्न करायी जाए।
- (ix) छात्रों की विद्यालय में उपस्थिति निर्धारित मानक के अनुरूप न होने पर उन्हें परीक्षा से वंचित किया जाए।
- (x) परम्परागत शिक्षण को आधुनिक शिक्षण से संतुलित रूप से जोड़ा जाय। जैसे(अ) पाठ-योजना लेखन की परम्परागत पद्धति की अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए। बल्कि प्रशिक्षणार्थी को बेहतर शिक्षण सामग्री की तैयारी और उनके प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। (ब) शिक्षण अभ्यास के पूर्व कुछ अध्यापकों द्वारा निर्देशन पाठ के साथ-साथ प्रत्येक विषय के कुछ विडियो रिकार्डेड अच्छे पाठों को दिखाया जाय, जिनमें शिक्षकों/शिक्षक प्रशिक्षकों तथा प्रशिक्षणार्थियों के भी अध्यापन पाठ शामिल हों; इत्यादि।
- (xi) शिक्षण प्रयोगाभ्यास के दौरान प्रशिक्षणार्थी को सम्बद्ध विद्यालय के एक सदस्य के रूप में अंगीकृत किया जाए तथा उन्हें औपचारिक कक्षा शिक्षण के साथ साथ विद्यालय की अन्य सभी गतिविधियों में भी शामिल किया जाए।
- (xii) सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ शिक्षण के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाए। प्रत्येक शिक्षण पद्धति के कम से कम 50 से 60 पाठों का अध्यापन अभ्यास कराया जाय। आलोचना, टिप्पणियां इत्यादि विधिवत् होनी चाहिए। पाठ पढ़ाया गया जैसी लिखने की परम्परा समाप्त होनी चाहिए।
- (xiii) सेमिनार, कार्यशाला तथा अन्य पाठ्य सहगामी क्रियाओं का आयोजन तथा इनमें प्रत्येक प्रशिक्षणार्थी को अनिवार्य सहभागिता सुनिश्चित किया जाय।
- (xiv) प्रवेश परीक्षा एवं उपाधि परीक्षा को नकल विहीन, अध्यापक शिक्षा के अभिरुचि से सम्बन्धित, ईमानदारी व निष्ठा से करानी चाहिए। इसमें ढिलाई होने पर कठोरतम रूप से दण्डित किया जाय।
- (xv) उत्तर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन तथा प्रायोगिक कार्य के मूल्यांकन में सुचिता बरती जाय।

पिछले कुछ वर्षों में जितनी तेजी से वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास हुआ है व्यक्ति के नैतिक संस्कारों, मानवीय मूल्यों एवं व्यावसायिक प्रतिबद्धताओं का हास भी उसी तेजी से हुआ है। शिक्षा, अध्यापक शिक्षा भी, इससे अछूती नहीं है। बल्कि कहें कि शिक्षा के नये सन्दर्भों में आज नैतिक, चारित्रिक मूल्यों की गिरावट एक विकट समस्या बनती जा रही है जिसका प्रभावी परिष्कार अत्यावश्यक है। गांधी जी के अनुसार, “जिस शिक्षा से हम चरित्रवान बन सकें वही सच्ची शिक्षा मानी जा सकती है।” वर्तमान सन्दर्भ में शिक्षा में विशेषतः अध्यापक शिक्षा में नैतिक चारित्रिक गुणों के विकास तथा मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा पर विशेष बल दिए जाने एवं अध्यापकों में इसके प्रति प्रतिबद्धता विकसित किए जाने की आवश्यकता है। हालांकि

आज स्वार्थपरक तथा भौतिकवादी परिवेश में यह इतना आसान नहीं है, किन्तु यदि समन्वित प्रयास किया जाय तो असम्भव भी नहीं; और यह दायित्व अध्यापक ही बेहतर निभा सकता है।

अध्यापकों में तकनीकी कुशलता तथा व्यावसायिक विकास के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण है कार्य के प्रति लगन, निष्ठा, व्यावसायिक प्रतिबद्धता, उनका चरित्रा एवं सद्व्यवहार जो मुख्यतः संस्कारों एवं मूल्यों से जुड़ा है। चाहे जितने अच्छे भौतिक संसाधन (जैसे-भवन, पुस्तकालय, प्रयोगशालाएं, विभिन्न उपकरण, साज-सज्जा आदि) उपलब्ध हों किन्तु यदि उपर्युक्त गुणों का अध्यापक में अभाव है तो किसी बेहतर परिणाम की उम्मीद करना व्यर्थ है। आशा की जानी चाहिए कि आने वाले दिनों में हमारा समन्वित प्रयास अवश्य सकारात्मक परिणाम देगा और एक उत्कृष्ट शिक्षा व्यवस्था तथा उसके माध्यम से एक सुशिक्षित, समृद्ध, सुदृढ़, समुन्नत भारत की संकल्पना साकार हो सकेगी।

संदर्भ

1. शर्मा, शशि प्रभा : टीचर एजुकेशनप्रिन्सिपल्स, थ्योरिस एण्ड प्रैक्टिस, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006
2. राव, वी.के. : टीचर एजुकेशन, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली, 2004
3. चक्रवर्ती, मोहित : टीचर एजुकेशन - माडर्न ट्रेन्ड्स, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006
4. जनार्दन प्रसाद : एजुकेशन एण्ड द टीचर, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006
5. मुकलेल, जोसेफ सी : गांधीयन एजुकेशन, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2006
6. सक्सेना, मिश्रा एवं मोहन्ती : अध्यापक शिक्षा, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2005
7. सिंह, प्रेम नारायण : शिक्षा के विविध आयाम, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, 2005
8. सोनी, रामगोपाल : अध्यापक शिक्षा, एच.पी. भार्गव बुक हाऊस, आगरा, 2006-07
9. तालामार्थी शिक्षकों के साथ चर्चा (09-02-1939) सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय-68:4/4-5 एवं खण्ड-13, पृष्ठ-300
10. टीचर प्रोफाइल नोट : कॅरिकुलम फ्रेम वर्क फॉर क्वालिटी टीचर एजुकेशन, पृष्ठ 23 व 24
11. सिंह, दिग्विजय : अध्यापक शिक्षा-समस्या एवं समाधान, शिक्षक अभिव्यक्ति (पत्रिका), शिक्षा संकाय, हंडिया पी.जी. कालेज, हंडिया, इलाहाबाद (उ.प्र.), 2004-05

पुस्तक समीक्षा

प्रकृति, प्रकाश, कविता एवं बच्चों में अपने होने का एहसास*

डॉ. कमल किशोर गोयनका**

साहित्य में कविता का महत्त्व इसलिए है, क्योंकि वह मनुष्य के अस्तित्व, संस्कृति, जिजीविषा और संघर्ष को वाणी देती है। कविता जीवन के प्रति आस्थावान बनाती है और अंधेरे द्वीप में भी जीवित रहने की ललक उत्पन्न करती हैं। वरुण कुमार तिवारी का यह कविता संग्रह कुछ ऐसी ही अनुभूतियाँ कराता है। इस संग्रह की कविताओं में, 'साँझ का धुँधलका' है, 'मुरझाये चेहरे' हैं, 'अंधेरी सुरंग' है, जीवन में 'भूख-प्यास-थकान' है, आदमखोरों से भरा, भयावह जंगल है, शहर सन्नाटा-सूनेपन-अँधेरे एवं भयंकर अट्टहास से घिरा है और 'कंक्रीट के घने जंगल' में बदल रहा है तथा 'अंधकार का आतंक' पहाड़ के नीचे गहरी खाई में कैद होकर मनुष्य को डरा रहा है। तब कवि सीना तान कर कहता है 'सूरज और बादलों के बीच / लगातार स्पर्धा में / पक्षधर हूँ मैं / उजाले का / मैंने देखा है / अंधेरे के खिलाफ / धूप का हँसना / अनगिन काँटों के बीच / फूलों का खिलना / और हिंसा व आतंक भरे / निर्मम वक्त में भी / बर्फ का गिरना।'

कवि चाहता है कि भोर से एक किरण मांगे, परंतु उसके लिए विश्वास के पंख पर सवार होना होगा 'माँग लो / एक किरण भोर से / जो ले जायेंगी / मंजिल तक मुझे / मगर इससे पहले / विश्वास के पंख पर / होना होगा सवार / फिर अनन्त आकाश से / होओगे तुम एकाकार / खुद के होने तक। कवि प्रकाशगामी है, इस अंधेरे द्वीप में प्रकाश चाहिए। कवि रोशनी से कहता है 'रोशनी! अब तो रहम करो और उँडेल दो। कुछ किरणें / मेरी खाली सुराही में।' कवि को कविता की शक्ति पर विश्वास है। कविता अंधेरी सुरंग में रोशनी फैला सकती है, कविता आदमी और मूल्य को अपनी पीठ पर ढोती है और कविता प्रत्येक आँगन के लिए सूरज की

* अपने होने का एहसास : वरुण कुमार तिवारी, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण-2007, मूल्य : 125 रुपये, पृष्ठ संख्या : 104

** डॉ. कमल किशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली

किरण, चाँद की चाँदनी तथा पूरी धरती के लिए मुक्त आकाश बनाना चाहती है 'और प्रत्येक आँगन के लिए / सूरज की किरणें / चाँदनी की छाँह / और पूरी धरती के लिए / मुक्त आकाश / होना चाहती है / कविता।' यह कविता आदमी को ढूँढ़ती है, आदमी दुर्लभ है, कहीं कोई आदमी नहीं लेकिन कवि को विश्वास है कि एक दिन कविता आदमी को ढूँढ़ ही लेगी 'ढूँढ़ती ही रहती है वह / इस भयावह जंगल में भी / एक अदद आदमी को लगातार / और जानता हूँ मैं / एक-न-एक दिन / अपने आकाश को / ढूँढ़ ही लेगी / कही-न-कहीं / कविता।' कवि का यह विश्वास अटूट है और उसकी कविता का भी क्योंकि 'कविता के हाथों में है / सुबह का उजाला / और उसकी आँखों में है / संभावनाओं की भरपूर चमक।'

कवि को यह चमक, उल्लास, जीवन-रस प्रकृति और बच्चों में भी दिखाई पड़ता है। कवि केवल प्रकृति, प्रेम, बच्चों का ही नहीं जीवन सौन्दर्य का भी प्रेमी है। प्रेम पर कुछ कविताएँ हैं और कवि मानता है कि जिसके जीवन में प्रेम नहीं है, उसके जीवन में 'जीवन' नहीं है। प्रकृति का सौन्दर्य तो अनेक कविताओं में परिवेश की सृष्टि करता है और वह जो बिम्ब निर्मित करता है, वे मन को प्रकृतिमय बना देते हैं। इस संग्रह में बाल-जीवन का अद्भुत एवं आकर्षक सौन्दर्य विद्यमान है।

कवि की आँखें बच्चों को देखते ही चमक उठती हैं और उसे स्पर्श करने पर उसके रोम-रोम में सहस्र कमल खिल उठते हैं। कवि इस बच्चे को अपने कंधे पर बैठाता है तो वह ऊर्जावान एवं प्राणवान बन जाता है 'मैंने उठा लिया / कंधे पर उसे / और मेरे बाजुओं में / आ गयी / सब राष्ट्रों की / सभी आकाशों की / नयी ऊर्जा / प्राणवत्ता के साथ।' कवि बच्चों को उत्सवमय देखता है और उन्हें संसार की सुन्दरतम चीज मानता है 'कृतज्ञ हूँ मैं / संसार की सुन्दरतम चीज / बच्चों की कोमल आँखों का / जिनमें मैं / पेड़-पर्वत-नदी / और चिड़ियों की भाषा को / पढ़ पाया / और उनसे बतियाते हुए / सहज सीख पाया / स्वयं से बातें करना।' इस बच्चे को कवि प्रकृति और अपने आत्म से जोड़ते हैं। बच्चों को मौसम, मिट्टी और ओस में भीगे गुलाबों से प्रेम है, अतः वे कवि उदास नहीं होंगे। जो प्रकृतिमय है, जो चिड़ियों, झरनों, पेड़ों तथा पत्थरों से प्रेम करते हैं, वे कंक्रीट के घने जंगल से बचे रहते हैं।

कवि आशावान है, स्वप्नदर्शी है तथा नयी रचना के लिए संकल्पशील है। वह कल की दुनिया को बेहतर बनाना चाहता है। वह इसके लिए स्वप्न देखता है 'मैं / आगत सुबह के लिए / सँजोने लगता हूँ। सुन्दर-सुन्दर सपने।' उसे इन सपनों के फलीभूत होने की आशा है। वह अपने प्रेमी से कहता है 'मेरे मन के पोर-पोर को / नयी आशाओं के / देश-राग से / झंकृत कर दो।' ये आशाएँ देश-राग पूर्ण हैं, पूर्ण देश के लिए, सभी मनुष्यों के लिए हैं, सभी पीड़ित, प्रताड़ित और परेशान आदमियों के लिए हैं, और इसके लिए वह किसी भी तानाशाह, हैवान और शैतान के लिए 'धधकती आग' बनने को उद्यत है, लेकिन यह लड़ाई वह हँसिया-हथौड़े से नहीं करेगा,

वह एक हाथ में फावड़ा और दूसरे हाथ में सलीब होकर चलेगा, अर्थात् अब कवि हिंसा-संहार तथा खूनी क्रांति से नहीं, निर्माण और बलिदान से देश की, समाज की और आदमी की रचना करेगा। कवि की यह चेतना उसे मार्क्स के स्थान पर गाँधी से जोड़ती है। विध्वंस और क्रान्ति का स्वप्न टूट चुका है, अब निर्माण के साथ बेहतर आदमी बनाने की प्रक्रिया भारतीय चेतना से ही करनी होगी। इस प्रकार इस कविता संग्रह में अपना आत्म-बोध ही नहीं है अपना मार्ग चुनने का भी साहस है। यह हिन्दी कविता का नया स्वर है, और निश्चय ही इक्कीसवीं शताब्दी की कविता का यह शुभारम्भ है। कवि की आशा, आस्था और विश्वास ने मनुष्य को नई ऊर्जा दी है। वह संकल्प के साथ, नई संभावनाओं को लेकर 'देश-राग' के लिए अपनी कविता का द्वार खोलता है, अतः इसका स्वागत होना चाहिए।

पुस्तक-समीक्षा

‘समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक अनुकरणीय प्रयास’**

डॉ. कामेश्वर पंकज*

तेलुगु भाषा अन्य भारतीय भाषाओं की तरह समृद्ध और प्रगतिशील है। यह सबसे बड़ी संख्या में बोली जाने वाली हिन्दी के बाद दूसरी भाषा है। इसकी भाषिक एवं साहित्यिक परम्परा विशाल और समुन्नत है। इसके साहित्य में भारत की धड़कन है। तेलुगु भाषा-साहित्य अपनी जातीय चेतना की महक लेकर भारतीय जनमानस को पूर्णता में व्यक्त करता है। वस्तुतः यह सभी भारतीय भाषा साहित्य का स्वधर्म है। तेलुगु साहित्य ने अपने प्रारम्भिक काल (सन् 700 ई.) से 20वीं शताब्दी तक एक लम्बी यात्रा तय की है और भारतीय भाषा-साहित्य को समृद्ध किया है। इनका आधुनिक युग सन् 1750 ई. से आरम्भ होता है, जिसे इतिहासकारों ने गद्य युग या नवीन विकास युग कहा है। इस युग का आरम्भिक काल ‘हास युग’ कहलाता है। 19वीं सदी के अंतिम चरण में गद्य युग का चतुर्दिक विकास हुआ है। इसका नेतृत्व केन्दुकुरि वीरेश लिंगम् पंतुलु ने किया। इन्होंने गद्य की लगभग सभी विधाओं में लेखन कर समकालीन रचनाकारों को साहित्य के नवीन क्षेत्रों और आधुनिक दृष्टिकोणों से परिचित करवाया। हिन्दी साहित्य में जो कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया वही कार्य तेलुगु साहित्य में के. वी. पंतुलु ने किया। समीक्ष्य पुस्तक ‘20वीं सदी का तेलुगु साहित्य’, संपादक डॉ. विजयराघव रेड्डी का प्रस्थान बिन्दु यही से आरम्भ होता है।

सम्पादक डॉ. विजयराघव रेड्डी का दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट और व्यापक है। वे एक तरफ भारतीय साहित्य को निरंतरता में देखते हैं तो दूसरी ओर भाषाई साहित्य की निजता को भी रेखांकित करते हैं। उनका मानना है कि “हर भाषा-साहित्य की अपनी साहित्यिकता होती है। तेलुगु साहित्य की भी अपनी साहित्यिकता एक ही सांस्कृतिक साझेदारी से सम्बद्ध अलग-अलग भारतीय भाषाओं के साहित्यों में एक ही साहित्यिकता सहज ही दूसरे में अन्तर्लीन रहती है।” (पृष्ठ सं. 13)

* समीक्षक : डॉ. कामेश्वर पंकज, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, के.बी. ज्ञा महाविद्यालय, कटिहार (बिहार)

** बीसवीं सदी का तेलुगु साहित्य, सम्पादक : डॉ. विजय राघव रेड्डी, आलेख प्रकाशन, बी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

वस्तुतः सभी भारतीय भाषा-साहित्य की अपनी साहित्यिकता होते हुए भी परस्पर भाव धारा का सातत्य है, जिसमें यहाँ का धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता आदि प्रवाहमान है।

पुस्तक में साहित्य की हर विधा कविता-कहानी से लेकर रेडियो-टी.वी. आलेख तक को लिया गया है। इन्हें निम्नलिखित नौ वर्गों में रखा गया है

1. तेलुगु साहित्य सृजन : बीसवीं शती की भूमिका
के. के. रंगनाथाचार्युलु
2. कविता (मुक्तक, प्रबंध और गीतिकाव्य सहित)
विजयराघव रेड्डी
3. कथा साहित्य (उपन्यास, कहानी और गल्पिका)
पोरंकि दक्षिणामूर्ति, सी. मृणालिनी
4. नाटक और रंगमंच
एस. ए. सूर्यनारायण वर्मा, पी. वी. नरसा रेड्डी
5. आलोचना (व्यावहारिक, सैद्धान्तिक, नवचिंतन)
कोवेल संपत्कुमाराचार्य
6. निबंध (निबंध, ललित निबंध, शोध प्रबंध)
वेलुदंड नित्यानंद राव
7. अन्य गद्य विधाएँ-1 : (आत्मकथा, यात्रा, पत्र, डायरी, साक्षात्कार)
- जी. गौरीशंकर
8. अन्य गद्य विधाएँ-2 (जीवनी, रेखाचित्र, रिपोर्टाज, रेडियो, टी.वी. आलेख)
जी. चेन्नकेशव रेड्डी, वी. मल्लिकार्जुन राव, ओलेटि पार्वतीशम्
9. समग्र अवदान
निखिलेश्वर

सम्पादक वि. रेड्डी की दक्षता है कि विश्लेषण में साहित्य का कोई कोना शेष नहीं रहा। 'तेलुगु साहित्य सृजन ... भूमिका' में लेखक के. के. रंगनाथाचार्युलु ने जिन परिस्थितियों को कलमबंद किया है, वह पूरे भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में सच है। यह वह फलक है, जिस पर हिन्दी-बंगला से लेकर तमिल, कन्नड़ आदि साहित्य चित्रित हैं। लेखक ने 20वीं सदी की भूमिका में 1830 ई. से लेकर 1995 ई. तक की उन सारी परिस्थितियों का वर्णन किया है, जिनकी पृष्ठभूमि पर तेलुगु साहित्य की रचना हुई है। लेखक ने बहुत ही दक्षता के साथ 20वीं सदी के विभिन्न साहित्यिकवादों, आन्दोलनों आदि को रेखांकित करते हुए उनके कारक तत्त्वों को स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि "आधुनिक युग में अनेक सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक सिद्धान्त, विचार व दृष्टिकोण प्रकट हुए जिनके कारण आधुनिक तेलुगु साहित्य के रूप में और उसके मूलतत्त्व में बहुत विविधता प्रकट हुई। सामाजिक व राजनैतिक आन्दोलन के समानांतर

में साहित्यिक आन्दोलन उठ खड़े हुए।” (पृष्ठ सं. 16) 20वीं सदी के आरम्भिक तेलुगु साहित्य के सृजन में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी की शिक्षा नीति, ईसाई मिशनरी, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव रहा है। 20वीं सदी में राष्ट्रीय स्तर पर जितने परिवर्तनराजनीति, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि हुए उनका प्रभाव भी तेलुगु साहित्य पर पड़ा। तेलुगु साहित्य में राष्ट्र को हर झरोखे से देखा गया।

डॉ. विजयराघव रेड्डी ने तेलुगु साहित्य के कविता जगत् का गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इनकी परिपक्व दृष्टि हमेशा इस बात पर भी रहती है कि यह पुस्तक हिन्दी में छप रही है तो हिन्दी काव्यधारा, वाद, आन्दोलन, शब्दावली आदि से मेल खाते हुए तेलुगु साहित्य के बाद आन्दोलन आदि की भी चर्चा हो। इसलिए उन्होंने तेलुगु = हिन्दीवचन कविता = मुक्त छन्द, भाव कविता = छायावाद, अभ्युदय साहित्य = प्रगतिवाद, अनुभूति कविता = रहस्यवाद आदि शब्दावलियों का समानांतर प्रयोग किया है। अन्य विधा के समीक्षकों ने इस तरह का प्रयास बहुत कम ही किया है। डॉ. रेड्डी की सधी हुई लेखनी ने तेलुगु साहित्य की कविता का सर्वेक्षण बहुविध कोणों से किया है। विश्लेषण में डॉ. सी. आर. रेड्डी की कविता ‘मुसलम्मा मरणम्’ (1899 ई.) से लेकर 21वीं सदी की दहलीज पर रची जाने वाली दलित और माइनारिटी कविता का यथासम्भव वर्गीकरण भी है। स्वरूपगत वर्गीकरणप्रबन्ध मुक्तक, गीतिकाव्य, वादगत वर्गीकरणभावकविता, अभ्युदयवादी कविता आदि; विचारगत वर्गीकरणविप्लव कविता, दलित, नारीवादी, माइनारिटी कविता आदिइस वर्गीकरण और विश्लेषण से तेलुगु साहित्य-कविता का पूरा परिदृश्य सहज ही दृष्टिगोचर होता है।

तेलुगु साहित्य का प्रथम उपन्यास 1872 ई. में नरहरि गोपाल कृष्णम्मा कृत ‘श्री रंगराज चरितम्’ है। यह तेलुगु साहित्य में कथा साहित्य का आरम्भ है। इसकी विकास यात्रा में कहानी, गल्पिका (लघुकथा) का सृजन हुआ है। लेखक पोरंकि दक्षिणामूर्ति एवं सी. मृणालिनी ने तेलुगु कथा साहित्य के विधागत वर्णन के साथ-साथ उपन्यासकहानी के कालगत और भावगत विभाजन कर इनके अध्ययन को सुगम बनाया है। तेलुगु साहित्य की प्रथम आधुनिक कहानी 1910 ई. में गुरजाडा अप्पाराव कृत ‘दिदुबाटु’ है। सन् 1940 ई. के आसपास गल्पिका का आरम्भ हुआ। गल्पिका (लघुकथा) लेखन में गोपीचंद और के. कुटुम्बराव का नाम लिया जाता है।

तेलुगु नाटक और रंगमंच आलेख की प्रस्तुति लेखक द्वय ने सम्यक् और संतुलित रूप से की है। नाटक और रंगमंच के उद्भव और विकास के साथ-साथ युगीन परिस्थितियों का वर्णन भी किया गया है। तेलुगु नाटक के विकास में गुरजाडा अप्पाराव और के. वीरेशलिंगम् के योगदान को भी रेखांकित किया है। लेखक ने हर दशक में नाटक की प्रवृत्तियों और उसके विकास की दशा और दिशा पर प्रकाश डाला

है। लेखक द्वय ने नाटक, एकांकी, वीथि नाटक (नुक्कड़ नाटक) और रंगमंच के विवेचन में तेलुगु समाज का भी अच्छा चित्रण किया है।

तेलुगु साहित्य में आधुनिक आलोचना का इतिहास सौ वर्ष पुराना है। आलेख लेखक कोवेल संपत्कुमाराचार्य ने लिखा है “साहित्यालोचन का आधुनिकता का रूप धारण करना 1892 ई. में सी. दक्षिणामूर्ति के द्वारा रचित कृति ‘पिंगलि सूरना’ से हुआ।” (पृ. 119) तेलुगु आधुनिक साहित्यालोचन में ब्रह्मय्या शास्त्री अविस्मरणीय हैं, जिन्होंने समालोचना को एक सुनिश्चित दिशा प्रदान की। इसके बाद इसके विकास और विविधता में प्रेसिडेंसी कॉलेज और क्रिष्टियन कॉलेज मद्रास की आंध्र भाषा समाज के छात्रों का अधिक योगदान रहा है। तेलुगु समालोचना के कई विकास चरण रहे हैं। भाव कविता (छायावादी) की समीक्षा ने तेलुगु समीक्षा के कई नये द्वारों को खोल दिया। 1985 के आसपास तेलुगु समीक्षा में नारीवाद और दलित विमर्श का प्रवेश हुआ। इसके साथ ही आधुनिकानंतर वाद (उत्तर-आधुनिकवाद), नव्य सम्प्रदायवादी आलोचना आदि का विकास तेलुगु भाषा-साहित्य को समृद्ध करता है। लेखक ने इन समालोचनाओं की विस्तृत व्याख्या की है।

निबंध आलेख के लेखक वेलुदंड नित्यानंद राव ने तेलुगु-निबंध साहित्य के उद्भव-विकास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है “तेलुगु निबंध-साहित्य सौध के चार मूल स्तम्भ माने जाते हैं वीरेशलिंगम् पंतुलु, गुरजाडा अप्पाराव, गिडुगु राममूर्ति पंतुलु, एवं पानुगुटि लक्ष्मी नरसिंह राव।” (पृ. 135) लेखक ने 1862 ई. से 1991 ई. तक के निबंध रचना एवं संग्रह का इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। निबंध साहित्य के विकास में हर भाग को दर्शाते हुए उनकी प्रवृत्तियों का भी वर्णन किया है। अन्य गद्य विधाएँ- 1 और 2 में कथा निबंध, नाटक, समीक्षा को छोड़ कर सभी गद्य विधाओं को समेटा गया है। आत्मकथा से लेकर रिपोर्ताज तक का विश्लेषण कालक्रमबद्ध ढंग से किया गया है। भारतीय भाषा-साहित्य की सभी विधाएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर विकसित और समृद्ध हुई हैं। यह तथ्य तेलुगु भाषा-साहित्य के लिए भी सत्य है। इसे स्वीकारते हुए जी. गौरीशंकर लिखते हैं “तेलुगु भाषा-साहित्य...अन्य भाषा-साहित्यों के सम्पर्क व संसर्ग से प्राप्त वैविध्यपूर्ण विधाओं को लिए आदान-प्रक्रिया से सुसंपन्न होता आया है।” (पृ. 145) ‘आत्मकथा’ विधा के लिए तेलुगु भाषा-साहित्य में कई पर्यायवाची शब्द प्रचलित हैं जीवित कथा, ब्रतुकु पुस्तकम्, मुच्चटुलु, एरुका, ज्ञापकालु, स्वीय चरित आदि। ‘स्वीय चरित्र’ अधिक प्रचलित है। तेलुगु की पहली ‘आत्मकथा’ 1911 ई. में रचित कंदुकूर वीरेशलिंगम् पंतुलु की है और आज तक एक सौ से अधिक आत्मकथाएं तेलुगु साहित्य में हैं। प्रथम यात्रा साहित्य 1836 ई. ‘काशी यात्रा चरित्र’ लेखक वीरास्वामय्या है, प्रथम जीवनी 1913 ई.के. वीरेशलिंगम् पंतुलु कृत ‘विक्टोरिया महाराणी चरितम्’ है। गद्य विधाओं के विवेचन में लेखकों ने उन विधाओं का भी विश्लेषण किया है, जो साहित्य विवेचन में प्रायः छूट जाते हैं, जैसे

रेडियो, टी.वी. आलेखन, फीचर लेखन, सम्पादकीय, पुस्तक आमुख इत्यादि। लेखकों ने इन विधाओं का शुमार करके साहित्य के क्षेत्र को विस्तृत किया है।

निखिलेश्वर जी का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि “एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में तेलुगु साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन करना इस सीमित दायरे में कठिन कार्य है” (पृ. 196) तेलुगु भाषा-साहित्य के 20वीं सदी के ‘समग्र अवदान’ की पृष्ठभूमि में इन्होंने लिखा है कि “बीती हुई बीसवीं शती में विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य पर जो भी पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव रहा, वह सब कुछ इधर तेलुगु साहित्य में भी घटता गया...पश्चिमी साहित्य में जो परिवर्तन पिछले तीन सौ वर्षों में हो गये थे, वे तेलुगु में सौ वर्ष में ही संपन्न हुए।” (पृ. 196) तेलुगु भाषा-साहित्य की 20वीं सदी समाज सुधारवादी रचना से आरम्भ होती है फिर भाववादी, अभ्युदयवादी, दिगम्बर कविता (हिन्दी की वीटनिक कविता), विप्लव कविता (नक्सलवादी कविता), स्त्रीवाद, दलित कविता, माइनारिटी कविता की धारा प्रवाहित रही। लेखक निखिलेश्वर ने अपने साहित्यिक दर्शन को व्यक्त किया है कि “केवल मनोरंजन के लिए रचना की जाय, यह बात बेमानी लगती है। किसी भी समाज का यथार्थ रूप साहित्य में दर्शाना हो तो कलात्मक शिल्परंजकता के साथ-साथ एक मानवीय दर्शन का अंतर्निहित आधार होना ही चाहिए।” (पृ. 199)

उनका यह भी मानना है कि “विश्व साहित्य की आधुनिक कविता में आई सभी प्रवृत्तियों को तेलुगु कविता ने आत्मसात किया।” (पृष्ठ 198) लेखक निखिलेश्वर अपने लघु निबंध में तेलुगु भाषा साहित्य के समग्र अवदान को व्यक्त करने में सफल हुए हैं।

समीक्ष्य पुस्तक का अवलोकन एक सुखद अध्ययन-यात्रा के समान है जिसमें तेलुगु भाषा-साहित्य में प्रवेश कर हम समस्त भारतीय भाषा-साहित्य में पसर जाते हैं। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तेलुगु भाषा-साहित्य को भारतीय भाषा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है और भिन्न-भिन्न लेखकों ने जो अपने आलेख प्रस्तुत किए उनमें कोई व्यवधान नहीं है। यह निश्चय ही सम्पादकीय परिपक्वता और विशाल दृष्टिकोण का परिचायक है। भारतीय भाषाओं की सभी भाषा-साहित्य में ऐसी पुस्तक और उन पुस्तकों का सभी भाषाओं में अनुवाद की आवश्यकता है। ऐसे कार्य से भारतीय साहित्य के सातत्य को उजागर किया जा सकता है। यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सभी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक धारा (जनमानस की) भावात्मकता एक है। भाषा का लिपिगत भिन्नता के पार्थक्य से उनकी दूरियाँ बढ़ती नहीं हैं। आज के समय में ऐसे प्रयास की अधिक आवश्यकता है। डॉ. वी. रेड्डी का यह प्रयास समस्त भारतीय भाषाओं के लिए अनुकरणीय है।

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिंतन-सृजन का जनवरी-मार्च 09 अंक डॉ. नरेन्द्र कोहली के माध्यम से प्राप्त हुआ। अपने नाम के अनुरूप पत्रिका सृजनात्मक चिंतन को सफलतापूर्वक प्रकाशित कर रही है।

मैं कुछ माह ही पूर्व अजंता का भ्रमण कर के आया और उसके बाद लोकेशचंद्र जी का आलेख पढ़ा। अफसोस यह हो रहा है कि यह आलेख पहले मिल जाता तो अजंता को सतही तौर पर जानने के अपराध-बोध से कुछ तो बच ही जाता। अत्यधिक ही विश्लेषणकारक चिंतन के साथ लोकेशचंद्र जी ने, और सही कहाये गुहाएँ हमें एक अद्भुत प्रशान्तता की धड़कनों में पहुँचा देती हैं।

डॉ. नरेन्द्र कोहली ने विष्णुकांत शास्त्री की पुस्तक के माध्यम से सीता के संबंध में विचारवान सामग्री प्रस्तुत की है। इस सामग्री पर बहस हो सकती है।

अंक पढ़ रहा हूँ। एक बार पुनः विचारवान सामग्री प्रदान करने के लिए आभार।
पुनश्च: काव्य यात्रा की सूचना देने के लिए धन्यवाद।

**प्रेम जनमेजय, 73, साक्षर अपार्टमेंट्स,
ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063।**

संपादक मंडल के पाँच पाण्डवों! आप अधूरे युद्ध के वीर हैं। पत्रिका में “चिन्तन” तो है, पराई रचनाओं की! किन्तु “सृजन” (कहानी, कविता, नाटक) नहीं है। पाठकों की टोली की उपेक्षित, और पाँच दस विद्वान समीक्षकों के लिये प्रिय पत्रिका है। यह एक ऐसा अस्पताल है, जहाँ खास रोग का रोगी आता है, जैसे टी. बी. अस्पताल। यहाँ हम एक सदर अस्पताल चाहते हैं, जहाँ साहित्य “सृजन” साकार हो सके। सभी विधाओं को सेहत और हमारे डाक्टर (संपादक) को यश मिला सके।

- भाई कमला प्र. बेखबर, फारबिसगंज, बिहार।

भाई बेखबरजी,

हिन्दी में सृजन को समर्पित पत्रिकाओं की भरमार है। फिर एक छोटी सी आधे अधूरे विचारों को समर्पित पत्रिका उन पत्रिकाओं के बीच रहे तो हर्ज ही क्या है? उसे झेल लें। वैसे आप रोगियों के लिए सदरअस्पताल चला ही रहे हैं। फिर उनकी की क्या चिन्ता?

- सम्पादक

आपके पुरस्कृत होने पर 10.2.2009 को एक अभिनन्दन पत्र भेजा था। मिला होगा। आज डॉ. रमानाथ त्रिपाठी द्वारा प्रेषित सामग्री में 'चिन्तन-सृजन' के अक्टूबर-दिसंबर, 2008 अंक में शंख-सिन्दूर पर आपकी समीक्षा देखने को मिली। चिन्तन-सृजन का जुलाई-सितंबर 2008 अंक के बाद कोई अंक नहीं मिला। कृपया अक्टू-दिस. 2008 अंक प्रेषित करने का कष्ट करेंगे।

- (प्रो.) भूपेन्द्र रायचौधरी,
58, गौहाटी विश्वविद्यालय परिसर, जुवाहाटी-781014

'चिन्तन-सृजन' की प्रद्वितियाँ मिलीं। अंक का सौंदर्यशास्त्र एवं आशयधनता बहुत अच्छी है। देश के विद्वानों की प्रतिभा एवं ग्यान का प्रकाश आपके पत्रिकाओं में दिखाई देता है। मैं गत आठ साल से जन संचार विभाग में कार्यरत हूँ। मुझे आशा है आपका सदा मार्गदर्शन मिलता रहेगा।

- डॉ. तुकाराम दौड,
जनसंववाद कॉलेज, लातूर (महाराष्ट्र)।

... लगभग पाँच वर्षों से इसे (चिन्तन-सृजन को) पढ़ रहा हूँ। कुछ वैचारिक लगाव सा भी है।

- के. सी. पन्त, सुखताल, नैनीताल।

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 371848**

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office

**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi- 110002**